प्रकाशक
दिल्ली पुस्तक सदन,
१२६ कमला मार्केट, नई दिल्ली।

प्रथम संस्करण अक्टूबर १९५६
पुनर्मुद्रण : नवम्बर १९५७
मूल्य : दो रुपया पचास नये पैसे

मुद्रक
शर्मा इलेक्ट्रिक प्रेस,
३८४३ दरियागंज, दिल्ली।

दो शब्द

स्वाधीनता प्राप्ति के उपरान्त भारत सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और शैक्षणिक क्षेत्र में क्रान्ति के पथ पर अग्रसर हुआ है। नई योजनाएँ बन रही हैं, नये प्रयोग हो रहे हैं और समस्याओं पर नवीन दृष्टि से ध्यान दिया जा रहा है। भारत जैसे जनतंत्रात्मक देश के लिए समुचित शिक्षा व्यवस्था के सम्बन्ध में भी अनेक समस्याएँ समुपस्थित हो रही हैं और उन पर सरकार के अतिरिक्त अनेक शिक्षा विशारद सोच विचार करते रहे हैं। शिक्षा की असीम महत्ता और इसकी वर्तमान आवश्यकताओं को समझते हुए उन समस्याओं पर विचार-विमर्श करना प्रत्येक अध्यापक का धर्म है।

एक अध्यापक के नाते शिक्षा सम्बन्धी कुछ महत्वपूर्ण समस्याओं पर जब कभी मुझे सोचने-विचारने का अवसर मिला है, मैंने निजी कर्त्तव्य के किंचित पालन करने के निमित्त, अपने विचारों को लेखबद्ध करके सामयिक पत्रिकाओं में प्रकाशित करके शिक्षा जगत की सेवा करने का प्रयास किया है। यह प्रयत्न सफल होते हुए देख कर, मेरे कई एक सुहृदयों ने इन सभी लेखों को संग्रह करके एक पुस्तकीय रूप देने का अनुरोध किया। उनके इस सुझाव को मैंने सहर्ष स्वीकार किया, और पाठकों के हित के लिए अपने विचारों को प्रस्तुत पुस्तक के रूप में समुपस्थित करने का प्रयत्न किया। यदि पाठकगण एवं अध्यापक मेरी इस पुस्तक से किंचित भी संतुष्ट हुए तो मैं अपने आपको कृतकृत्य समझूँगा।

मैं उन सभी सम्पादकों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट किए विना नहीं रह सकता जिन्होंने अपनी पत्रिकाओं में मेरे छपे हुए लेखों को प्रस्तुत पुस्तक द्वारा पृथक रीति से छापने की आज्ञा दी है।

इस पुस्तक के प्रकाशन के उपरान्त मैं पाठक वृन्द से पुस्तक के सम्बन्ध में नये परामर्श और विचारों की आशा रखता हूँ।

अन्त में मैं इस पुस्तक के प्रकाशक का आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने मेरे विचारों को एक सुन्दर पुस्तकीय रूप देकर मेरी कामना को कार्य रूप में परिवर्तित किया है।

—लेखक

विषय-सूची

वर्तमान भारत में बच्चों की शिक्षा

पिछले दो सौ वर्षों से भारत में एक मूक क्रांति हो रही है। कुछ उन प्राचीन आधारों के नष्ट हो जाने से (जिनका दबाव उनके अनुमोदन का कारण था)। उनके पुराने महत्व का भी अन्त हो गया है। यह परिवर्तन किसी एक जाति अथवा जीवन के केवल एक रूप तक ही सीमित नहीं है। मनुष्य के प्राकृतिक शक्तियों पर बढ़ते हुए अधिकार ने इस परिवर्तन के क्रम को और भी तीव्र गति दी है। किन्तु आश्चर्य है कि इन परिवर्तनों के होने पर भी आज भारत में करोड़ो ग्रामीण निरक्षर, अबोध और अन्धविश्वासी हैं। उनकी इन परिवर्तन-शीलता में एक पाषाण शक्ति रखने वाला अंश है। इस प्रकार एक ओर ऐसा जनसमूह है जिसमें समझने और समझाने की शक्ति तो नहीं है किन्तु जन्मभूमि से प्राप्त अपार पारम्भिक शक्ति अवश्य है दूसरी ओर वह शिक्षित समाज है जो उत्सुक, उत्साहित और अग्रगामी है।

शिक्षा सम्बन्धी प्रयोग इस परिवर्तन-क्रिया के सदैव एक भाग रहे हैं और वर्तमान भारत में 'बच्चो की शिक्षा' इस शिक्षा सम्बन्धी प्रयोग के कार्यक्रम का एक अंग है।

'बच्चो की शिक्षा' की प्रस्तावित योजना में २ से ६ वर्ष तक के बच्चों के लिए ऐसा वातावरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है जहाँ वह शारीरिक सुरक्षा और सहायता प्राप्त कर सकें जिससे उनका बचपन सुखमय हो तथा अग्रिम शिक्षा की भित्ति का निर्माण हो। बच्चों की शिक्षा देने के लिए पर्याप्त समय और धन व्यय करने की आवश्यकता होती है किन्तु यदि साधारण ग्रामीण को स्वयं इस विषय पर विचार

करने के लिए छोड़ दिया जाए तो वह इसका कोई कारण नहीं खोज सकता।

हमारे देश के गाँवों व कस्बों में अधिकतर भूखे रहने वाले तथा निम्न सामाजिक व आर्थिक परिस्थिति में जन्म लेने वाले बच्चों के लिए नर्सरी स्कूलों के रक्षण की अत्यन्त आवश्यकता है क्योंकि उनके माता-पिता दोनों को ही काम पर जाना होता है। ऐसी परिस्थिति में वह अपने छोटे बच्चों की देख-भाल उनके बड़े भाई बहिनों पर छोड़ जाते है। इन भाई बहिनों में इतनी योग्यता ही नहीं होती कि वह उचित रीति से यह कार्य कर सकें और न ही उन्हें नीरोग रहने के नियमों का ज्ञान होता है। जैसा भी खाने को मिल जाता है उन्हें दे दिया जाता है। इससे उनका शारीरिक विकास नहीं हो पाता। आ. २ से ६ वर्ष तक के करोड़ों बच्चे उपेक्षित रहते हैं। यह उपेक्षा ही बच्चों की बहुसंख्य मृत्यु का कारण है। इन बच्चों के बचाव व इनमें स्थिति की भावना जाग्रत करने के लिए तो बचपन में शिक्षा देना आवश्यक है ही पर उससे भी अधिक आवश्यकता उनकी शारीरिक सुरक्षा की है।

शिक्षा के सम्बन्ध में अपना वक्तव्य देते समय मद्रास के डा० एन० कृष्णाराव ने इसे स्पष्ट रूप से प्रकट किया है :—

बड़े-बड़े शहरों में खेलने के मैदान व अन्य सुविधाएँ न होने के कारण नर्सरी स्कूलों की अधिक आवश्यकता है। मद्रास नर्सरी स्कूल योजना का उद्देश्य उन स्कूलों की सहायता करना है जो खुल चुके हैं और उन लोगों को सहयोग देना है और स्कूल खोलना चाहते हैं।

२ से ६ वर्ष तक के बच्चों में चेतना अधिक होती है। वह अपने आस-पास रहने वाले मनुष्यों तथा चारों ओर के संसार के प्रति अपनी भावना बनाते है। इस समय उन्हें अनुभवी माता-पिता और अध्यापक के सच्चे पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता होती है जिससे उन्हें बचपन का आनंद-मय और निश्चिन्त जीवन बिताने तथा अच्छी प्रवृत्तियों को बनाने में

सहायता मिले। अतः यह आवश्यक है कि गाँवों में हमारी निःशुल्क-प्रारम्भिक स्कूल बनाने की योजना में इस वय के बच्चों के लिए नर्सरी व किंडरगार्टन स्कूल खोलने की ओर भी ध्यान दिया जाये।

इनसे अच्छी आर्थिक व सामाजिक परिस्थिति वाले समाज में एक तो वह परिवार है जहाँ माता-पिता दोनों काम पर जाते हैं और बच्चों को या तो अशिक्षित नौकरों की देख-भाल पर छोड़ जाते हैं या उन दयावान पड़ौसियों के संरक्षण में छोड़ते हैं जिन्हें उन पर ध्यान देने का अवकाश ही नहीं होता। दूसरे ऐसे परिवार हैं जहाँ माताएँ काम पर नहीं जातीं अतः वह बच्चों की स्वयं देख-भाल करती हैं ऐसी परिस्थिति में बच्चों को नर्सरी स्कूल में भेजना आवश्यक प्रतीत नहीं होता। फिर भी यदि बच्चा अकेला हो तो उसे अपनी अवस्था के बच्चों के साथ सामूहिक अनुभव प्राप्त करने के लिए नर्सरी स्कूल में भेजना आवश्यक हो जाता है। बच्चे यह अनुभव करना चाहते हैं कि किसी समूह में उनका भी स्थान है और यह किसी 'समूह का सदस्य' होने की भावना नर्सरी स्कूल में ही प्राप्त होती है। यहाँ उन्हें खिलौने तथा अन्य वस्तुओं को परस्पर वितरण करने का अवसर मिलता है। इस प्रकार और बच्चों के साथ रह कर तथा अपनी बारी पर काम करके वह मानव के परस्पर सम्बन्ध का विकास करने में सहयोग देते हैं।

अपनी शिक्षा योजना को प्रारम्भ से ही प्रभावशाली बनाने के लिए भारत के प्रत्येक गाँव व छोटे-छोटे शहरों में नर्सरी स्कूलों की स्थापना करना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है। राष्ट्र के निर्माण का केवल एक ही साधन है कि वहाँ के छोटे-छोटे बच्चों को ही शिक्षा देना आरम्भ किया जाये क्योंकि यही उनका निर्माण काल होता है। बच्चों को कैसी भी शिक्षा मिले यह नर्सरी स्कूल की शिक्षा सदैव उनके साथ रहती है। उनका विद्यालय जाना, अन्य बच्चों के साथ खेलना, समाचार मालूम करना, अपने नियम व स्वभाव बनाना सभी नर्सरी स्कूल से प्राप्त शिक्षा पर आधारित रहते हैं।

'बच्चों की शिक्षा' के जिस रूप का मैंने वर्णन किया है उसे प्रोत्साहित करने वाला वातावरण कहना अनुपयुक्त न होगा क्योंकि बच्चों को सिखाने के लिए इस योजना में पर्याप्त सामग्री और योग्य शिक्षकों की व्यवस्था है। इस प्रकार के स्कूल उन बच्चों के लिए तो विशेष रूप से उपयोगी हैं जिनकी प्रमुख असुविधाएँ सामाजिक होती हैं, जैसे:—इकलौते, पिछड़े हुए, दूरस्थ, पड़ोसियों से पृथक् रहने वाले, और निम्न सामाजिक व आर्थिक स्थिति के परिवारों में जन्म लेने वाले बच्चे जहाँ माता-पिता उन पर पूरा आवश्यक ध्यान नहीं दे सकते। इनके अतिरिक्त कुछ बच्चे साथी न होने के कारण और कुछ जीवन की कठिनता के कारण संसार में; साधारण स्थिति न बना सकने वाले परिवार के सदस्य होने के कारण समाज से अलग रह जाते हैं। इन बच्चों के लिए नर्सरी स्कूल ऐसा वातावरण प्रस्तुत करते हैं जहाँ वह अपना भाग ले सकते हैं, दूसरों पर अपनी भावना प्रकट कर सकते हैं तथा सामूहिक कार्य में लगे रह सकते हैं।

छोटे-छोटे बच्चों में साथ-साथ खेलने, बोलने, कल्पना करने और काम करने से परस्पर प्रेम की भावना बढ़ती है। यह स्नेह को सन्तुलित रखने का सबसे आवश्यक साधन है।

नर्सरी स्कूल बच्चों को अपनी ही अवस्था के बच्चों से मित्रता स्थापित करने का अवसर देते हैं। बच्चे को अपने वास्तविक रूप में लाने का यही एक उपाय है। उसे प्रभावशाली प्रौढ़ संसार के विरुद्ध सहायता मिलती है क्योंकि उनसे तो वह किसी प्रकार भी समानता नहीं कर सकता। वह अपने आपको अपनी शारीरिक परिस्थिति का स्वामी अनुभव कर सकते हैं—यहाँ उनकी शक्ति व ऊँचाई के योग्य सामान प्रस्तुत रहता है। नर्सरी स्कूल में ऐसे प्रौढ़ मनुष्य होते हैं जो बच्चों की आन्तरिक इच्छाओं और रुचि को समझने के कारण उनसे सहानुभूति रखते हैं। शिक्षक की सहायता पाकर तथा करने में उनकी अभिरुचि देख कर बच्चे निर्भय हो जाते हैं। इन्हीं कारणों से भारत के विभिन्न गाँवों व

शहरों में छोटे बच्चों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए नर्सरी स्कूलों की स्थापना करना अत्यन्त आवश्यक है।

आज कल तो नर्सरी-स्कूल-शिक्षा अधिकांश में माता-पिता की इच्छा पर ही निर्भर है। नर्सरी स्कूल अथवा कक्षाओं का प्रारम्भिक तथा माध्यमिक शिक्षालयों में सम्बन्ध बना देने का उत्तरदायित्व स्थानीय और केन्द्रीय सरकार को अपने ऊपर ले लेना चाहिए। यही नहीं कि नर्सरी स्कूल इन छोटे बच्चों के लिए ही उपयोगी हैं जो अन्य शिक्षालयों में नहीं जा सकते बल्कि माता-पिता को बच्चों की देख-भाल करने की शिक्षा देने के भी केन्द्र हैं। अतः नर्सरी स्कूलों के साथ ही माता-पिता को सम्मति देने वाले केन्द्र भी बन जाने चाहिएँ जहां एक छोटा पुस्तकालय तथा एक पढ़ने का कमरा भी हो। नर्सरी स्कूल योजना बच्चों की इन्हीं व्यवस्थाओं के साथ प्रोत्साहन देने में प्रयत्नशील है।

भारत के अनेक मनुष्य नर्सरी स्कूलों पर धन व्यय करने में बुद्धिमत्ता नहीं समझते क्योंकि अभी तक तो प्रारम्भिक शिक्षा ही यहाँ की जनता के केवल एक छोटे भाग को ही मिल पाती है। प्रारम्भिक शिक्षा योजना के साथ ही साथ नर्सरी-स्कूल शिक्षा भी चलनी चाहिए। धन का, अनुभवी शिक्षकों का, स्थान का तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं का अभाव हमारी शिक्षा के उत्थान में बाधक है। शिक्षा की सम्पूर्ण योजना में नर्सरी स्कूलों को उनका एक महत्वपूर्ण और और आवश्यक अंग समझना चाहिए।

युद्ध-काल, युद्ध के पश्चात् की आवश्यकता और घनी आबादी के कारण बच्चों के लिए कुछ ऐसी बातों की आवश्यकता है जिन पर सदैव जोर नहीं डाला जाता। जैसे 'आदर्श जीवन' का चित्र जिससे उन्हें यह सोचने का अवसर मिले कि ऐसी परिस्थिति के पश्चात् क्या होता है। भिन्न-भिन्न स्थानों, मनुष्यों, और दिनचर्या में किसी प्रकार की असुविधा अनुभव न हो और इसे वह आधार बना सकें। फिर ऐसी सामग्री व क्रियाएँ हों जो उनकी बढ़ती हुई आवश्यकता और अवस्था के अनुकूल हों

इसके अतिरिक्त जीवन व्यतीत करने की ऐसी योजना हो जो उनके खेल, विश्राम, भोजन और विचार में सामंजस्य रखती हो।

छोटे बच्चों की देखभाल करने वालों को सदैव यह स्मरण रखना चाहिये कि सभी बच्चे एक से नहीं होते बल्कि उनमें विभिन्नताएँ भी होती हैं। यह व्यक्तिगत विभिन्नता ही तो बच्चों की देखभाल को इतना मनोरंजक और कठिन बना देती है।

विकास की दृष्टि से बच्चे अपने अनुभवों और खोजों से बढ़ते हैं, कल्पना से नहीं। जिन बच्चों को आज्ञाकारी बनाया जाता है उन्हें अपनी प्रस्ताव करने की शक्ति खोकर इसका मूल्य चुकाना होता है। "उन्नतिशील शिक्षा" की भित्ति यह है जहाँ बच्चे अपना प्रत्येक पग, यदि वह उनकी स्वाभाविक विकास शक्ति से सम्बद्ध है तो, पहले से अधिक सुविधा से उठा सकते हैं।

बच्चों की शिक्षा में एक प्रकार की ऐसी स्थिति प्रस्तुत करना अभीष्ट है जिससे शिक्षा देने के साधन वास्तविक विकास के अधिक समानान्तर हो सकें। बच्चा अपने जीवन में जिस सीमा तक पहुँचता है वह उसकी जीवन-सत्ता को समझने की योग्यता पर निर्भर है। सबसे पहले तो जीवन-सत्ता केवल खाने और नहाने के समय तक ही सीमित रहती है किन्तु धीरे-धीरे जैसे ही क्रमानुसार उसकी देखने, हँसने, बोलने, अपने हाथों को काम में लाने की शक्तियाँ प्रकट होती जाती हैं उसे जागृत रहने का उद्देश्य भी मालूम हो जाता है। नींद का मुख्य केवल अनुभवों की सनसनाहट के बीच नई स्फूर्ति देना मात्र रह जाता है। एक बच्चा अपनी संचालन शक्ति, प्रसन्नता की प्रबल माँग, बन्धनों के प्रति-विद्रोह, जीवन का निश्चिन्त हार्दिक आनन्द आदि को जितना ही गुप्त रखना और मन में करना सीखता जाता है उतना ही वह उसकी स्मृति से दूर होते जाते हैं। बच्चा जैसे-जैसे बड़ा हो जाता है वैसे ही वह इन गुणों से दूर रहने का प्रयत्न करता जाता है साथ ही परिवर्तन का प्रभाव भी बढ़ता जाता है।

संसार के समस्त मनुष्य अपने बच्चों की संचालक शक्ति से डरते हैं छोटे मानव की प्रबल प्राकृतिक शक्ति को मानना तो दूर वह उसके स्वाभाविक विकास को रोक देते हैं और बच्चे को उस लचीली मिट्टी के समान समझते हैं जिसे चाहे जैसा भी रूप दे सकते हैं। पुराना विचार था कि बच्चे स्वयं आगे बढ़ना नहीं चाहते और यदि पीछे से बड़े उनका पथ-प्रदर्शन न करें अथवा उन्हें उनकी शक्ति को प्रयोग में लाने के लिए बाध्य न करें तो वह जीवन के किसी छोर तक नहीं पहुँच सकते। यदि हम बच्चों के उन कठिन कार्यों की ओर; जिन्हें बच्चा स्वयं करता है, ध्यान देना छोड़ दें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि बड़ों को प्रसन्न करने के अतिरिक्त इस विचार का कोई अस्तित्व नहीं है।

बच्चे में व्यक्तित्व की रक्षा की आवश्यकता बड़ी गहरी जमी हुई है। पूर्व-प्रारम्भिक शिक्षा की प्रत्येक अवस्था में बच्चे की स्वाभाविक शक्तियों को सुरक्षित रखने का ध्यान रक्खा गया है। विकास की भावना के साथ-साथ चलने वाली कोमलता बच्चे के जीवन में उपयोगी सिद्ध होती है। विशिष्ट सिद्धि की प्राप्ति के लिये यह सुरक्षित कपाट का कार्य करती है। विकासोन्मुख प्रवृत्तियों और लौकिक माँगों के बीच बहुत बड़ा अन्तर है। बच्चे को अपनी परिवर्धन-शक्ति और सम्मतियों के बीच सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है।

बच्चे के पालन-पोषण में आधुनिक माता-पिता को इतनी कठिन समस्याओं का सामना करना पड़ता है कि यदि उनके पूर्वज उन्हें देख पाते तो आश्चर्य चकित हो घबरा उठते। उदाहरणार्थ, यदि एक शिक्षित माता-पिता अपने बच्चे का सम्बन्ध उसके साथियों से तोड़ना चाहें तो यह कहने के अतिरिक्त कि "तुम इस प्रकार के बच्चे से न खेलो" उन्हें अपना रेडियो खराब करना पड़ेगा, अपने टेलीफून के सम्बन्ध को तोड़ना पड़ेगा, समाचार पत्र या पत्रिकाओं का मूल्य भेजना बन्द करना पड़ेगा। यहां तक कि अपने द्वार पर से सब प्रकार का व्यापार रोकना होगा।

व्यवहार के बनने और बदने में दो चीजों का गहरा प्रभाव पड़ता है—शिक्षा का तथा विकास का। शिक्षा—व्यवहार के परिवर्तन को कह सकते हैं जो पुराने अनुभव से होता है। विकास—आध्यात्मिक और शारीरिक परिवर्तन हैं जो ज्यों-ज्यों मनुष्य बढ़ता जाता है उसके शारीरिक अंगों में होता जाता है।

२ से ६ वर्ष की अवस्था के बच्चे आकार में बढ़ते जाते हैं। उन की शक्ति में भी एक प्रकार की वृद्धि होने से परिवर्तन हो जाता है। मांस-पेशियाँ अधिक पुष्ट हो जाती हैं, प्रतिक्रियाएँ और भी शीघ्रता से होने लगती हैं, मन को एकाग्र करने और कठिन तथा विषम काम में लगाने की क्षमता बढ़ जाती है। पूर्व-प्रारम्भिक शिक्षा में इन बातों पर ध्यान रखना चाहिये।

बच्चों के विकास अनुक्रमणिका पर लिखी पुस्तक में Jerrild ने इस सिद्धान्त को स्पष्ट किया है :—

"मानव विकास जितनी शीघ्र गति से परिवर्तन होता उतना ही परिणाम पर प्रभाव डालने का अवसर मिलेगा।"

यह प्रस्तावना जिस सीमा तक सत्य है, उतना ही बच्चे के प्रारम्भिक जीवन से सम्बन्धित शिक्षा का महत्त्व बढ़ जाता है। जब पूर्व-स्कूल-शिक्षा को बच्चे की बढ़ती हुई क्षमता को उपयोग में लाने के लिये उसकी नैसर्गिक शक्तियों के विकास का महत्त्वपूर्ण अंग समझ कर उच्च स्थान देना चाहिए, तो शिक्षा का भी यह उत्तरदायित्व है कि जैसे-जैसे बच्चा बढ़ता जाये वह ऐसे मार्गों की खोज करे जिनसे उसकी नैसर्गिक शक्तियाँ स्वमेव प्रकट हो सकें। बच्चा यदि अपनी शक्ति के अनुसार प्रत्येक काम को करने की इच्छा करना सीख जाता है तो यह उसकी शक्तियों के लिये स्थायी चुनौती होती है।

पूर्व ज्ञान से ही अनुमान लगाया जा सकता है कि हमारी आगामी शिक्षा वर्तमान शिक्षा से कितनी आगे पहुँच सकती है। शिक्षा के मुख्य

अभ्यासों में अवश्य भविष्य का संकेत है। बच्चों की वह शिक्षा जो केवल वर्तमान संकेतों पर ही आश्रित होगी अवश्य विकास के उपकरणों से दूर हो जायगी तथा बच्चों का उपकार करेगी। अतः उन प्रस्तावों को महत्त्व देना बुद्धिमत्ता होगी जिनमें उन क्रियाओं को स्थान मिलता है जो न केवल वर्तमान विकास के लिए ही उपयुक्त हों बल्कि भविष्य में भी उपयोगी सिद्ध हों। आज के लिए महत्त्वपूर्ण और भविष्य के लिये उपयोगी माँगों में परस्पर विरोध नहीं होना चाहिये क्योंकि वह एक-दूसरे की पूर्ण करती हैं।

बच्चे का विकास इन सबकी एक साथ वृद्धि करने या प्रारम्भिक प्रवृत्तियों को सुधारने अथवा नवीन विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों को अपनाने से ही नहीं होना बल्कि उन बातों को भी दूर करना चाहिये जो प्रारम्भिक दिनों के लिये तो उपयुक्त थी किन्तु अब व्यर्थ हैं।

बच्चों की शिक्षा में शारीरिक और मनोवैज्ञानिक सहायता को अवश्य स्मरण रखना चाहिए। बच्चा प्यार का भूखा होता है। वह अनुभव करना चाहता है कि उसका भी कहीं स्थान है। बच्चे की दूसरों से प्यार पाने की इच्छा अनेक प्रकार से प्रकट होती है और जितना ही वह बड़ा होता जाता है उतनी ही इस इच्छा की प्रबलता कम होती जाती है। बच्चे की देखभाल में शिक्षालयों का अत्यधिक उत्तरदायित्व है। शिक्षालय का कर्तव्य है कि न तो वह बच्चे की बहुत अधिक देखभाल करे और न उसकी उपेक्षा करे। बच्चे को चतुर बनाने के लिए शिक्षालय को सहायता देनी चाहिए, जिससे वह क्रमशः अपने पैरों पर खड़ा होना सीखे। बच्चों को ऐसे अवसर देना भी स्कूल का काम है। जिससे वह अपनी सहानुभूति व सहयोग की क्षमता बना सके। अन्य बातों के साथ-साथ शिक्षालय में बच्चों को ऐसे अवसर भी मिलने चाहिएँ जिनके द्वारा उनमें प्रतियोगिता और हितकर स्पर्धा की भावना जागृत हो। प्रत्येक व्यक्ति प्रमाण, आकार और यहाँ तक कि विकास में भी एक दूसरे से भिन्न होता है। जैसे कि यह सत्य है कि अपनी योग्यता

और लक्षणो में प्रत्येक बालक भिन्न होता है उसी प्रकार बच्चे के अंतर में भी विभिन्नताएँ होती है यह भी सत्य है। एक बच्चा अपनी बुद्धि में अग्रगण्य हो सकता है किंतु रचनात्मक क्रियाओं में भी साधारण बच्चो के समान हो। पर अधिकाश में तो यही होता है कि अच्छे गुण एक साथ ही रहते हैं। जो बच्चा एक विषय में सबसे अधिक प्रतिभाशाली होगा वह अन्य विषयो में भी सामान्य से अच्छा ही होगा। अत. केवल वही योजना बच्चे की विभिन्न आवश्यकताओ को पूरा करने में सफल हो सकती है जिसमें अनेक प्रकार की रचनात्मक क्रियाओ तथा शिक्षा के अन्य साधनो का समावेश हो।

बच्चे की अभिरुचि पर भी ध्यान देना आवश्यक है। जैसे बच्चा २ से ६ वर्ष तक बढता है, शिक्षा को भी भिन्न-भिन्न परिणाम ग्रहण करने पड़ते हैं। इस पूर्व प्रारम्भिक शिक्षा-काल में बच्चे की क्रियायें वातावरण की देन से बहुत अधिक प्रभावित होती हैं।

बच्चो के विकास व वृद्धि का यह रूप समस्त विश्व के बच्चो की विशेषताओ का प्रदर्शक है। कभी-कभी बच्चों की इन प्रवृत्तियो को प्रकट करने में भौगोलिक विभिन्नताओं, पारिवारिक स्थितियो तथा संस्कृति का भी प्रभाव पड जाता है। बच्चों की प्रारम्भिक आवश्यकताएं तो सर्वत्र एक ही होती हैं। इसलिये प्रभावशाली पूर्व प्रारम्भिक शिक्षा का उद्देश्य एक तो उनकी पूर्ति करना है जिसका घर में अभाव होता है फिर उन्हें इस योग्य करना है कि वह अपना बाल्यकाल आनन्दमय बना सकें तथा प्रौढ जीवन की प्रभावशाली भित्ति बन सकें।

हमारे देश में बच्चो की शारीरिक सुरक्षा सबसे अधिक आवश्यक प्रतीत हुई है। सरकारी और सार्वजनिक कल्याण के लिए बनी सभाओं को, पूर्व-प्रारम्भिक-शिक्षा के विकास व स्थापना के लिए की गई प्रत्येक योजना को आश्रय देना चाहिये और इसके लिए पर्याप्त धन की व्यवस्था

करनी चाहिए। शिक्षा की अन्य योजनाओं के साथ-साथ माता-पिता की शिक्षा पर भी ध्यान होना आवश्यक है। सरकार व जनता को सबसे अधिक तो स्त्री-कल्याण-संगठन को सहायता देनी चाहिए जिसने इस योजना को आगे बढ़ाने में अपना सहयोग दिया है।

अतः यह स्पष्ट है कि भारत में आदर्श विद्यालय वहाँ बनाना चाहिए जहाँ गाँव के प्रत्येक बच्चे की पहुँच किसी भी ठीक समय पर हो सके और वह अति साधारण ढंग का होना चाहिए। बच्चों की दिनचर्या में खेल, संगीत, पर्यटन, भोजन, विश्राम कहानी आदि सभी को उचित स्थान मिलना चाहिए। सब कहानियाँ और उपदेश साधारणतः स्थानीय भाषा में होने चाहिएँ। जिससे सीखने में सुविधा रहे। इन बच्चों को सर्वथा व्यावसायिक शिक्षा देनी ही उचित नहीं क्योंकि उनकी अवस्था कम होती है। अधिकांश समय तो ऐसे हाथ के काम को देना चाहिए जो मनोरंजक होने के साथ-साथ शिक्षाप्रद भी हो। 'हाथ के काम' से हमारा अभिप्राय मिट्टी के नमूनों से ही नहीं है बल्कि सूत की दस्तकारी भी सिखानी चाहिये जिसका हमारे गाँव में आधिक्य भी है और जिससे विभिन्न प्रकार की बुनाई व जाली तैयार की जा सकती है।

भारतीय ग्रामों में बच्चों का बहुत थोड़ा समय विद्यालय में बीतता है। इसलिए पूर्व-प्रारम्भिक-शिक्षा को पर्याप्त रूप से पूर्ण और मनोरंजक बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। कहानी और संगीत द्वारा बच्चों को बड़ी सुगमता से शिक्षा दी जा सकती है। राष्ट्रीय जीवन के समान विद्यालय के जीवन में भी संगीत को महत्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए। लय व अभिनय का आनन्द देने वाली कहानियाँ शिक्षा देने का सर्वोत्तम साधन बताई जा सकती है।

गाँव के प्रत्येक विद्यालय के चारों ओर बाग होना शिक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वहाँ हम बच्चों के साथ उन कामों में भाग ले सकते हैं जिनसे वह घर में भी परिचित हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त

अवस्था अच्छी न हो और माताओं को काम पर जाना पड़ता हो वहाँ तो विशेष रूप से प्रोत्साहन देने की आवश्यकता है।"

पूर्व-निर्मित योजना के अनुसार शिक्षालय बच्चों के निवास से जितने भी निकट हों अच्छा है: भारत-कृषि प्रधान देश है अतः यहाँ के अधिकांश बच्चों के माता-पिता या संरक्षक या तो कृषक हैं अथवा खेतों में काम करने वाले श्रमिक हैं इसलिए समय परिवर्तन की व्यवस्था होनी चाहिए जिससे माता-पिता या बड़ी बहनों को जब भी सुविधा हो वह बच्चों को विद्यालय में ला सकें।

युद्ध के पश्चात् शिक्षा सम्बन्धी पुनर्निर्माण के लिये बनाई गई मद्रास विश्वविद्यालय की समिति ने जो सुझाव दिये हैं उनका मैं भी अनुमोदन करूँगा।

(१) समस्त बड़े शहरों में नर्सरी संस्थाएँ होनी चाहिएँ।

(२) इस प्रकार के शिक्षालय अधिकतया निर्धन बस्तियों में होने चाहिएँ।

(३) २ से ५ वर्ष तक के अथवा इनसे कुछ बड़ी अवस्था के बच्चों को इन संस्थाओं में भेजना चाहिए।

(४) स्वास्थ्य-निरीक्षण और पालन-पोषण की अच्छी व्यवस्था होनी चाहिये तथा इसी काल में समस्त रोगों का उपचार कर देना चाहिए।

(५) नर्सरी स्कूलों के शिक्षक विशेष रूप से शिक्षित व अनुभवी होने चाहिएँ।

(६) भोजन की उचित व्यवस्था होनी चाहिये।

(७) ऐसे भोजन के लिए प्रत्येक माता-पिता से उनकी सामर्थ्य के अनुसार धन लेना चाहिए।

(८) अन्य क्षेत्रों में यदि कोई स्वयं नर्सरी संस्था खोलना चाहे तो सरकार से उसे प्रोत्साहन मिलना चाहिए।

बाल्यकाल की शिक्षा को प्रोत्साहित करने और पूर्व-प्रारम्भिक शिक्षा का एक अंग होने के कारण, माता-पिता की शिक्षा का इसके साथ-साथ चलना आवश्यक है। यदि हमारे सामाजिक कार्य-कर्ता और नर्सरी स्कूल के अनुभवी व दूरदर्शी शिक्षक समय-समय पर बच्चों के घरों में जाएँ तो इस योजना में बड़ी सहायता मिले। माता-पिता को नर्सरी स्कूल में घुमाकर प्रदर्शन करना बहुत उपयोगी है इससे पूर्व प्रारम्भिक शिक्षा के कार्य-क्रम में इनको विश्वास भी हो जाता है। यह प्रदर्शन फिल्मों के द्वारा होना चाहिये। अखिल भारतीय नारी सभा, Y. W. C. A, Red Cross और Guild Service आदि वर्तमान महिला संगठनों से [illegible] में सहायता मिलने की हमें पूर्ण आशा है।

शिक्षालय कारखाने तो हैं नहीं जहां के उत्पादन का अनुमान पहले से ही लगाया जा सकता है यह तो एक सामूहिक योजना है जहां शिक्षकों, व्यवस्थापकों, बच्चों व माता-पिताओं को सम्मिलित रूप से काम करना चाहिए।

अच्छे स्वास्थ्य व अच्छी शिक्षा का अधिकार प्रत्येक बच्चे को होना है चाहे उसका जन्म कहीं भी हुआ हो। बच्चों को प्रभावशाली शिक्षा देने में आर्थिक बन्धनों की समस्या सबसे विषम और यथार्थ है। इस समस्या का समाधान सरकारी और व्यक्तिगत सहायता से हो सकता है।

नर्सरी स्कूलों की आवश्यकता

हमारे देश में आजकल शिक्षा क्षेत्र में बहुत हलचल मची हुई है। भारतीय शिक्षा की उत्तम व्यवस्था के लिए अनेक कमीशन और कमेटियाँ नियुक्त की जा रही हैं किन्तु आश्चर्य का विषय है कि सरकार की ओर से अथवा जनता की ओर से पूर्व-प्रारम्भिक शिक्षा पर अभी तक कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया। प्रायः माता-पिता पूर्व-प्रारम्भिक शिक्षा से बिल्कुल अनभिज्ञ हैं। जो कुछ लोग इस विषय से परिचित भी हैं, वे अपने वात्सल्य के आगे नर्सरी स्कूलों में स्वस्थ वातावरण में अपनी संतान के पालन-पोषण को अधिक महत्त्व नहीं देते। इसका प्रधान कारण यही है कि साधारण जनता को इस विषय में कोई उचित शिक्षा नहीं दी जाती।

सार्जेन्ट रिपोर्ट के अनुसार नर्सरी शिक्षा के लिए तीन करोड़ रुपया व्यय करने का आयोजन किया गया है, तथा लगभग दस लाख नर्सरी स्कूल स्थापित करने का विचार है। इन स्कूलों में निःशुल्क शिक्षा दी जायगी तथा इन स्कूलों में बालकों को भेजना माता-पिता की इच्छा पर निर्भर होगा तथापि यह प्रयत्न किया जायगा कि माता-पिता अपनी संतान को इन्हीं स्कूलों में शिक्षा दिलायें।

(१) बालकों के स्वास्थ्य की रक्षा तथा स्वास्थ्य की उन्नति के लिये उत्तम व्यवस्था।

(२) साधारण घरों की अपेक्षा उत्तम एवं अधिक स्वास्थ्यप्रद वातावरण की व्यवस्था।

(३) विवाहिता स्त्रियों को निःशुल्क अथवा स-शुल्क कार्य करने का अवसर देना। आधुनिक समय में यदि बालकों के हित को इस कार्य के अधीन समझा जाय तभी स्त्रियाँ इस कार्य को सम्भालेंगी।

बाल्यकाल से इस अवसर में थोड़ी-बहुत शिक्षा की आवश्यकता है, क्योंकि यह बालक का निर्माणकाल है। यह समय बालक के चरित्र-निर्माण का सुयोग है, तथा उसके व्यावहारिक शिक्षा का भी उत्तम अवसर है। इस अवस्था में बालकों को अनुभवों की अधिक आवश्यकता है। खेल,खिलौने तथा अन्य सामाजिक कार्य उनके निर्माण के उत्तम साधन हैं। 'खेल' के महत्व को भी पूर्णतया समझने की आवश्यकता है, क्योंकि खेल अनुभव प्राप्ति के साथ ही मनोरंजन का साधन भी है। खेल तथा कार्य में कोई भेद नहीं होना चाहिए। उत्तम नर्सरी स्कूल में फ्रोइबल तथा मान्टेसरी की शिक्षा-पद्धतियों में से उत्तम रीतियाँ चुनकर शिक्षा दी जानी चाहिये। बालक को पर्याप्त स्वतंत्रता मिलनी चाहिये। शिक्षक को कभी-कभी सहायता एवं संरक्षण के लिये अवश्य तैयार रहना चाहिये।

मुझे इंगलैंड में नर्सरी स्कूलों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, वहां जिस वस्तु ने मुझे सबसे अधिक आकर्षित किया वह वहाँ की सजावट और साधन थे। स्कूल-भवन तथा अन्य वातावरण-स्थित भवन विशेष ध्यान देकर निर्माण किये गये थे जिससे वहाँ स्कूल तथा घर दोनों के गुण व साधन सुगम हों। सार्जेन्ट रिपोर्ट में इस विषय का कोई उल्लेख नहीं किया गया। ग्रेट ब्रिटेन के नर्सरी स्कूल एसोसियेशन ने 'प्लेनिंग दी न्यू नर्सरी स्कूल' शीर्षक एक पत्रिका प्रकाशित की है। इसमें विद्वानों ने महत्वपूर्ण विषयों—जैसे स्कूल के निर्माण तथा साधन पर भिन्न-भिन्न परिच्छेद लिखे हैं। जो नर्सरी-शिक्षा में रुचि रखते हैं, उन्हें इस पत्रिका से लाभ उठाना चाहिये।

नर्सरी स्कूल, घर और ऊँची कक्षाओं के बीच एक मध्य मार्ग है।

अतः इसमें गृह-सुखों के साथ ही उत्तम सामाजिक व्यवस्था होनी चाहिये, जहां रहकर भिन्न-भिन्न वर्गों के बालक सामाजिक जीवन का सुखपूर्वक उपभोग कर सकें।

व्यक्तिगत शिक्षा एवं व्यक्तिगत सहयोग को सुलभ बनाने के लिये विद्यार्थियों की संख्या कम होनी चाहिये। दो हजार की जन-संख्या में से, सार्जेन्ट रिपोर्ट के अनुसार, एक कक्षा में चालीस विद्यार्थी होने चाहिए। यदि इससे अधिक जन-संख्या में भी इतनी ही संख्या में विद्यार्थी लिये जायें, तब भी कोई हानि नहीं।

बालकों की स्वास्थ्य-रक्षा के लिये यह उचित है कि विद्यालय-भवन खुले स्थान में, शहर के शोर तथा धुएं से दूर स्थित हों। कक्षा के कमरों की अपेक्षा खेल के मैदान और बगीचे आदि अधिक महत्वपूर्ण हैं, किन्तु हमारे यहाँ ऐसे महत्वपूर्ण विषय पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। प्रायः जूनियर स्कूल तंग और गन्दी गलियों में होते हैं, प्रान्तीय स्वास्थ्य-रक्षा-विभाग तथा शिक्षा-विभाग इस ओर अधिक ध्यान नहीं देते। फलस्वरूप आज देश में स्वास्थ्य-शिक्षा-आन्दोलन मचा हुआ है। मुझे आशा है कि हमारे विद्यालयों के भवन-निर्माण पर अधिक महत्व दिया जायेगा। लंदन के विद्यालयों में खेलने के मैदानों में छतें भी होती हैं, हम भी इसी प्रकार की व्यवस्था कर सकते हैं। सड़क की मोटर गाड़ियों से बालकों की रक्षा करने के लिए मैदान के चारों ओर हरी बाड़ लगा देनी चाहिये।

स्कूल भवन भी एक महत्वपूर्ण स्थान है। कमरे खुले, हवादार एवं स्वच्छ होने चाहियें। वहाँ रोशनी ठीक दिशा में आनी चाहिये। दरवाजों, दीवारों और खिड़कियों के रंग सुन्दर होने चाहियें। जमीन ठन्डे और चमकदार सीमेंट अथवा टाइल्ज की होनी चाहिये। चमकदार रंगीन पर्दे बालकों के लिये आकर्षण की वस्तु हैं। यदि ऋतुओं के अनुसार रंगों में

परिवर्तन लाया जाय, तो अधिक आकर्षण लाया जा सकता है। फूलों द्वारा मनोरंजन तथा सुन्दर वातावरण उत्पन्न किया जा सकता है।

फर्नीचर बनाते समय भी विशेष ध्यान रखने की आवश्यकता है। उसे बनवाते समय बच्चों की आवश्यकताओं का ध्यान अवश्य रखना चाहिये। भारतवर्ष में कुर्सियों की अपेक्षा दरियां अधिक अच्छी रहती हैं, साथ ही वे सस्ती भी होती हैं। नीचे डेस्क तथा चौकियां अधिक उपयोगी सिद्ध होंगी। कहने का तात्पर्य यह है कि स्कूल भीतर और बाहर से सुन्दर एवं आकर्षक होना चाहिये जिससे बालक स्वयं वहां जाने को तैयार रहें।

प्रायः बालकों को पाँच या छः घण्टे तक स्कूल में रहना पड़ता है। अतः वहां स्नान करने, आराम करने तथा भोजन करने की उत्तम व्यवस्था होनी चाहिये। बालकों की रक्षा तथा आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये शिक्षिकाओं तथा शिक्षकों को उनके साथ मैत्री रखनी चाहिये तथा उनका व्यवहार भी मित्रों जैसा ही होना चाहिये।

नर्सरी स्कूलों की सफलता अधिकतर खेलों के साधनों पर अवलंबित है। उन्नतिशील बालकों की उन्नति और आवश्यकताओं का समुचित ध्यान रखते हुए, इन साधनों का चुनाव करना चाहिये। ये साधन सस्ते, आकर्षक और टिकाऊ होने चाहिए। इसके अतिरिक्त, डा० कुमाराप्पा के शब्दों में इनसे बालकों के इन्द्रिय-विकास एवं स्नायु विकास में भी सहायता मिलनी चाहिये। ये बालकों की भिन्न-भिन्न रुचियों के अनुकूल हों, अधिक थकावट न करें, बालकों की क्रियात्मक भावना को सन्तुष्ट करने में समर्थ हों, तथा इस अवस्था में बालकों के विकास के लिए अनुकूल हों।

इस विषय में अधिक विस्तार तथा चित्र आदि वस्तुएं व्यक्तिगत अभिरुचियों पर निर्भर हैं, तथा इनका निर्णय शिक्षकों को स्वयं करना चाहिये। उत्तरी नर्सरी स्कूल में, रेत, मिट्टी, चित्रकला-साधन तथा क्रियात्मक खिलौने आदि अवश्य होने चाहियें।

इन साधनों के उपयोग अथवा रक्षा पर भी कुछ विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। यह छिपाकर रखने की वस्तु नहीं। उसे देखने से ही अनेक सम्भावनायें उत्पन्न हो जाती हैं, जिनसे अनेक समस्यायें आदि भी सामने आती हैं। अतः यह साधन सुलभ होने चाहियें। प्रत्येक वस्तु के लिये नियत स्थान होने चाहियें, साथ ही बालकों से बड़ों के समान नियम और नियन्त्रण की आशा नहीं करनी चाहिये। बालकों को इन साधनों को झाड़-पोंछकर स्वच्छ रखने का काम सौंप देना चाहिए; शिक्षकों को उन की देख-भाल करनी चाहिए।

पश्चिम में नर्सरी स्कूलों में अध्यापन-कार्य स्त्रियों पर निर्भर है। भारतीय-शिक्षा-विषयक रिपोर्ट में मि० वुड ने भारत में भी इन स्कूलों में स्त्री शिक्षिकाओं को ही रखना उचित समझा है। मेरे विचार से तीसवें वर्ष में स्त्रियाँ इस कार्य के लिये अधिक उपयोगी हो सकती हैं, विशेषकर यदि वे विवाहिता हों। इस कार्य के लिए उन्हें विशेष शिक्षा की आवश्यकता है। साधारण ट्रेनिंग-कालिज का पाठ्य-क्रम पर्याप्त नहीं, क्योंकि उन्हें बाल-मनोविज्ञान के असीम ज्ञान की आवश्यकता है—विशेषकर दो से सात वर्ष तक के बच्चों के मनोविज्ञान का उन्हें विशेष ज्ञान होना चाहिये। उन्हें भाँति-भाँति के शिक्षाप्रद खेलों और खिलौनों से भी भली भाँति परिचय होना चाहिए। हमारे यहाँ अधिकतर ट्रेनिंग कालिजों में इन वस्तुओं का वर्णन ही बताया जाता है, फलस्वरूप न तो शिक्षकों को उनका प्रयोग आता है और न उनको पहचानना ही आता है।

अतः उपर्युक्त उद्देश्य नर्सरी स्कूलों के सामने होने चाहिएँ। यह ठीक है कि हम एक ही दिन में उन्नति नहीं कर सकते किंतु फिर भी उन्नति सम्भव है। अब भी उन्नति के कुछ कुछ चिन्ह दृष्टिगोचर होने हैं।

शिक्षा में मार्ग निर्देशन

पश्चिमी देशों की शिक्षा व्यवस्था में आजकल शैक्षणिक मार्ग निर्देशन का प्रमुख स्थान है: यह आन्दोलन उनकी शिक्षा का एक अविभिन्न अंग बन चुका है। आज के शिक्षा विज्ञों ने इसका महत्व भली प्रकार समझ लिया है। अमरीकन शिक्षा की उन्नति का मुख्य कारण यही आंदोलन है; शैक्षणिक, सामाजिक एवं आर्थिक प्रयोजनों की सिद्धि का सर्वोत्तम साधन यही मार्ग निर्देशन है। यही इस शब्द की सीधी-सादी व्याख्या है।

परन्तु फिर भी हमारे मध्य ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं है जो इस विषय से अनभिज्ञ हैं। सन् १९४४ में प्रकाशित सार्जेन्ट रिपोर्ट में भी इस विषय का कोई उल्लेख नहीं किया गया। हाँ उसमें एक छोटा सा अध्याय व्यवसाय-नियुक्ति विभाग अवश्य है। खींच-तान कर हम इसका सम्बन्ध उपरोक्त विषय से जोड़ सकते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि अभी तक हम मनोविज्ञान को समाज के उत्थान के एक महत्वपूर्ण घटक के रूप में स्वीकार नहीं कर पाये हैं। मनोविज्ञान के इस महत्व को अभी हमें समझना है। इसमें सन्देह नहीं कि हमारे देश में भी इस दिशा में कुछ प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये गये हैं। उत्तर प्रदेश एवं बम्बई राज्य में इस आन्दोलन का श्री गणेश हो चुका है। उत्तर प्रदेश की सरकार ने सन् १९४७ में ब्यूरो आफ साइकालोजी स्थापित किया। सन् १९५० में इस आन्दोलन के प्रसारार्थ बम्बई सरकार ने एक विशेष गाइडेन्स आफीसर नियुक्त किया था। आशा की जाती है कि समय के साथ-साथ इन दोनों

संस्थाओं के कामों में उन्नति होगी और कुछ समय में ही यहाँ विधिपूर्वक कार्य प्रारम्भ हो जायगा।

इस आंदोलन का आधार मनुष्य की आवश्यकताएँ हैं और इसका उद्देश्य मनुष्य के जीवन एवं उसकी प्रतिभा व शक्ति को सुरक्षित रखना है। इससे हमारा तात्पर्य यह नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति में आइन्सटाइन, टैगोर अथवा महात्मा गांधी बनने की क्षमता होती है परन्तु यह अवश्य सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति में कुछ ऐसी विभूतियां होती हैं जो उसे बहुत कुछ नहीं तो कुछ अवश्य बना सकती हैं। परन्तु हम उस कुछ तक भी नहीं पहुँच पाते क्योंकि हमें जीवन में आवश्यकतानुसार उचित परामर्श देने वाला उपयुक्त पथ-प्रदर्शक कोई नहीं मिलता। हम अपने जीवन की यात्रा मार्ग जाने बिना ही प्रारम्भ कर देते हैं। परिणाम यह होता है कि बहुत कम ही कोई ऐसा भाग्यशाली निकलता है जो अपने निर्दिष्ट लक्ष्य तक पहुँच जाता है। मानव-शक्ति व्यर्थ नष्ट होती है, जीवन जैसे-तैसे व्यतीत हो जाता है। ऐसे व्यक्ति कम ही होंगे जो अपने अपनाए हुए व्यवसाय के लिए सर्वथा उपयुक्त हैं। शिक्षित व्यक्तियों को भी नौकरी नहीं मिलती, केवल इसीलिए नहीं कि हमारे यहाँ रिक्त स्थानों की इतनी ज्यादा कमी है वरन् इसलिए कि हमारे पढ़े लिखे नवयुवक अपने आप को किसी व्यवसाय के योग्य नहीं समझते। मार्ग निर्देशन आन्दोलन का उद्देश्य इन कठिनाइयों को दूर करना है। अपने जीवन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में प्रत्येक व्यक्ति को उचित परामर्श मार्ग निर्देशन की आवश्यकता होती है। मार्ग निर्देशन आन्दोलन से इस आवश्यकता की पूर्ति होती है। इसके द्वारा मनुष्य को दो महत्वपूर्ण बातें ज्ञात हो जाती हैं:—पहली उसमें क्या करने की योग्यता है और दूसरी वह अपनी योग्यताओं से अधिक से अधिक लाभ किस प्रकार उठा सकता है।

प्रत्येक नवयुवक के सामने कई प्रकार की समस्याएँ होती हैं उ[illegible] मनुष्य ही उसे मार्ग निर्देशन की भी आवश्यकता होती है। अस्तु जि[illegible] प्रकार की समस्याएँ होंगी उतने ही प्रकार का मार्ग निर्देशन भी हो[illegible]

इन समस्याओं का एक दूसरी से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है और वे एक दूसरे के इतनी समान हैं कि उन्हें पृथक करना असम्भव सा है फिर भी सुभीते के लिये हम इन समस्याओं का वर्गीकरण इस प्रकार कर सकते हैं.

१. स्वास्थ्य व शारीरिक विकास से सम्बन्धित।
२. गृह तथा परिवार से सम्बन्धित।
३. व्यक्तित्व से सम्बन्धित।
४. शिक्षा से सम्बन्धित।
५. व्यवस्था से सम्बन्धित।
६. धर्म से सम्बन्धित।
७ सामाजिक जीवन से सम्बन्धित।
८. अवकाश के समय के सदुपयोग से सम्बन्धित।

इसमें सन्देह नहीं कि इन स्थानों पर विचार करना आवश्यक है। इन पर हर शिक्षालयों में एवं उनके बाहर भी ध्यान देना चाहिये। परन्तु हमारे वर्तमान शिक्षालय इस प्रकार के हैं कि इन समस्याओं में से अधिकांश का उत्तरदायित्व वे नहीं ले सकते। परन्तु शैक्षणिक तथा व्यावसायिक मार्गनिर्देशन का पूर्ण उत्तरदायित्व ले लेने में उन्हें संकोच नहीं होना चाहिये। इनके अतिरिक्त शिक्षार्थियों के व्यक्तिगत जीवन की समस्याओं में भी वे कुछ सहायता अवश्य कर सकते हैं

मार्गनिर्देशन की आधारभूत बातें निम्नलिखित हैं :—

१. प्रत्येक व्यक्ति में व्यक्तिगत योग्यताएँ एवं अभिरुचियाँ होती हैं। जो सब में समान नहीं होती।

२. व्यक्तिगत अभिरुचियाँ एवं योग्यताएँ निर्दिष्ट नहीं होतीं।

३. मार्गनिर्देशन का उद्देश्य केवल आदेश देना नहीं है। इसके विपरीत मनुष्य में स्वयं सहायता की तथा अपनी उन्नति करने की योग्यता उत्पन्न करना है।

शैक्षणिक मार्ग निर्देशन

शिक्षार्थियों की समस्याओं में सबसे पहली समस्या शैक्षणिक मार्ग-निर्देशन की है। इसके अन्तर्गत यह तीन बातें आती हैं।

१. विद्यार्थी में किस प्रकार की तथा कैसे कार्य करने की योग्यता अधिक है।

२. किस प्रकार की शिक्षा से उसकी योग्यताओं का पता चल सकता है तथा किस प्रकार से वह उन्हें विकसित कर सकता है।

३. अप्रगतिशील शिक्षार्थियों के लिये क्या करना चाहिये।

शैक्षणिक मार्गनिर्देशन अध्यापन कार्य से सर्वथा भिन्न है: शैक्षणिक मार्गनिर्देशन किसी व्यक्ति के बौद्धिक विकास में आवश्यकतापूर्वक सहायता करने को कह सकते है। मार्गनिर्देशन विभिन्न प्रकार से परीक्षणों के द्वारा शिक्षार्थी की योग्यताओं, वृत्तियों तथा अभिरुचियों आदि का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करता है और उनके आधार पर उस व्यक्ति का वह मार्गनिर्देशन करता है। बहुधा व्यवसायिक दृष्टिकोण को शैक्षणिक मार्ग निर्देशन में अधिक महत्व दिया जाता है: उदाहरणार्थ यदि भविष्य में चिकित्सा विज्ञान का अध्ययन विद्यार्थी का लक्ष्य हो तो शिक्षार्थी को उसी के लिये तैयार करना चाहिये। इसके अर्थ यह हुए कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने भावी व्यवसाय का निश्चय बहुत पहले ही कर लेना चाहिए। इस अवस्था में शैक्षणिक एवं व्यवसायिक मार्गनिर्देशन साथ-साथ चलने चाहियें।

शिक्षा का एक सोपान पार करने के पश्चात आगे बढ़ने से पूर्व प्रत्येक शिक्षार्थी को यह देख लेना चाहिये कि वह मार्ग उसके लिये लाभदायक है या नहीं। यहाँ आकर भी उसे शैक्षणिक मार्ग निर्देशन की आवश्यकता पड़ती है। प्रत्येक शिक्षालय एवं महाविद्यालय में अनेक पाठ्य क्रमों की व्यवस्था होनी चाहिये जिससे शिक्षार्थी मार्गनिर्देशन से पूरा-पूरा लाभ उठा सकें।

कभी-कभी ऐसे विद्यार्थी भी आ जाते हैं जिनमें किसी प्रकार का मानसिक अथवा स्नायविक अवरोध होता है। उनके लिए भी वैयक्तिक मार्गनिर्देशन की आवश्यकता रहती है। मार्ग निर्देशक उसकी रुकावट के कारणों आदि की जाँच करके उसकी उन्नति के उपाय बता सकता है। इस बात को एक उदाहरण देकर स्पष्ट कर देना उचित होगा यह घटना ब्यूरो आफ सायकोलोजी इलाहाबाद की है। एक तेरह वर्ष की बालिका वहाँ आई। उसमें कोई मानसिक रुकावट थी। उसकी मांस पेशियाँ भी असम्बद्ध थी। कुछ परीक्षणों आदि के पश्चात् यह देखा गया कि उसकी मानसिक आयु केवल ६ वर्ष है और उसकी बुद्धि लब्धि ५० है। स्पष्ट था कि वह बालिका अपना कुछ भी काम नहीं कर सकती थी। उसका उच्चारण भी ठीक नहीं था। मांस पेशियों के नियन्त्रण में बहुत कमी थी। इसका विशेष कारण उसकी मानसिक दुर्बलता ही थी। इन अन्वेषणों के आधार पर उसकी उन्नति के लिये ये उपाय निर्धारित किए गये :

१. मानसिक विकास के लिए :

स्थूल पदार्थों द्वारा शिक्षण का आयोजन किया गया। इससे उसकी शब्दावली में वृद्धि हुई। अंकों का ज्ञान हुआ तथा उसके साधारण विचारों में कुछ विकास हुआ। इससे उसकी मांस पेशियों के नियंत्रण में भी कुछ दृढ़ता आ गई और उसका उच्चारण भी कुछ ठीक हो गया।

२. संवेगात्मक विकासार्थ :

उसके साथ सहानुभूति पूर्ण परन्तु दृढ़ व्यवहार का आदेश दिया गया। मार्गनिर्देशक का कार्य केवल सुझाव देकर ही समाप्त नहीं हो जाता। उसे पूरी प्रगति का ध्यान रखना पड़ता है और आवश्यकता पड़ने पर परिवर्तन भी करने पड़ते हैं।

३. व्यावसायिक मार्गनिर्देशन :

किसी व्यक्ति को व्यवसाय चुनने में, उसके लिए उसे तैयार करने में उसे प्रारम्भ करने में तथा उसमें उन्नति करने में सहायता करना ही

साधारण शब्दों में व्यावसायिक मार्गदर्शन की परिभाषा मानी जा सकती है दूसरे शब्दों में किसी व्यक्ति को अपनी व्यावसायिक योजना में सफलता प्राप्त करने में सहायता करना ही व्यावसायिक मार्गनिर्देशन कहा जा सकता है।

व्यवसाय मनुष्य की भाँति अनेक ही है और इसमे भी संदेह नही कि सभी मनुष्य किसी एक व्यवसाय के लिए कभी उपयुक्त नही हो सकते। प्रत्येक व्यवसाय के लिये विशेष वृत्ति चाहिये तथा विशेष तैयारी तथा विशेष पृष्ठ भूमि तैयार होने की आवश्यकता होती है। जिस व्यक्ति में यह सब विद्यमान हो वही व्यवसाय में सफल हो सकता है। व्यावसायिक मार्गनिर्देशक सर्वप्रथम यह पता लगाता है कि उसके लिए कौन-कौन से काम सहज में मिल सकते हैं और उनके लिए किन-किन बातो की आवश्यकता है। इसके बाद वह यह देखता है कि उसके मार्गनिर्देशन में जो व्यक्ति है वह उन सब आवश्यकताओ को पूर्ण कर सकता है अथवा नही। मार्गनिर्देशन का कार्य तत्काल ही समाप्त नही हो जाता वरन् उसे अपने सुझाव देने के बाद भी कुछ समय तक उस व्यक्ति और उसके काम का अवलोकन करना होता है। यदि आवश्यक हो तो पुनः परिवर्तन भी करने पड़ते हैं। अधिकतर सेकेण्ड्री स्कूल की अवस्था में व्यवसायिक मार्ग निर्देशन की आवश्यकता होती है क्योकि इस अवस्था के बाद अधिकांश शिक्षार्थी या तो किसी व्यवसाय को प्रारंभ करते हैं या व्यावसायिक प्रशिक्षण संस्थाओ में शिक्षा प्राप्त करने के लिए जाते हैं।

आज का युवक व्यवसाय प्रारम्भ करते समय केवल दो बातो का ख्याल रखता है। पहली कौन सी जगह खाली है और दूसरी वेतन। न तो स्वयं वह और न उसके पिता आदि इस बात को सोचते हैं कि वह उस व्यवसाय विशेष के लिए योग्य भी है अथवा नही। बहुधा ऐसी परिस्थितियाँ आ जाती हैं जिनके कारण किसी योग्य व्यक्ति को अत्यंत साधारण सा काम स्वीकार कर लेना पडता है। ऐसी आर्थिक सत्टापन्न स्थितियो में स्कूलो एवं कालेज को उन शिक्षार्थियो की सहायता करनी चाहिए।

अस्तु: व्यावसायिक मार्गनिर्देशन के अन्तर्गत ये अवस्थाएँ आ जाती हैं :

१. व्यक्ति सम्बन्धी आवश्यक विषयों का सकलन ।

इसमें सामान्यता शारीरिक, स्वास्थ्य, बुद्धि लब्धि, व्यक्ति की विशिष्ट वृत्तियों, अभिरुचियों एवं योग्यताओं का सकलन आवश्यक है ।

२. परामर्श देना ।

उपरोक्त सकलन के आधार पर व्यक्ति के अनुकूल व्यवसाय के सम्बन्ध में परामर्श देना होता है । यह परामर्श सामान्य रूप से अथवा किसी विशेष व्यवसाय के लिए किसी प्रकार भी दिया जा सकता है । मान लीजिए कोई व्यक्ति व्यावसायिक मार्गनिर्देशनार्थ किसी मार्गनिर्देशक के पास जाता है । समस्त सामग्री संकलित करने के उपरान्त मार्गनिर्देशक यह निर्णय देता है कि अमुक व्यक्ति वैज्ञानिक तथा प्रायोगिक व्यवसाय में अधिक सफल हो सकता है । यह सामान्य रूप से परामर्श देना हुआ ।

कभी-कभी मनुष्य किसी विशेष लक्ष्य को सम्मुख रखकर परामर्श लेने आते हैं उदाहरणार्थ कोई व्यक्ति इस उद्देश्य से परामर्श लेने जाय कि वह चिकित्सा शास्त्र के अध्ययन में तथा उस व्यवसाय में सफल होगा कि नहीं । परामर्शदाता उसकी जाँच करके उसे बता देता है कि वह इस कार्य को सफलतापूर्वक कर सकता है या नहीं । यह विशेष रूप से परामर्श देना हुआ । एक बार ब्यूरो आफ साइकोलोजी इलाहाबाद में एक नवयुवक इंजीनियरिंग व्यावसायिक मार्गनिर्देशनार्थ उपस्थित हुआ उसकी परीक्षा आदि करके उसे निम्नलिखित परामर्श दिया गया ।

इस व्यक्ति की परीक्षा करने के उपरान्त हम इस निर्णय पर पहुँचे कि वह इंजीनियरिंग में पूरी तरह सफल हो सकता है बशर्ते कि उस की अभिरुचि नष्ट न हो या किसी प्रकार की आर्थिक कठिनाइयाँ उसके मार्ग में न आयें ।

३. जिस व्यवसाय के लिए परामर्श दिया जाय उसके लिये तैयार करना ।

एक-एक व्यावसायिक मार्गनिर्देशक की आवश्यकता होगी । परंतु एक विशेष क्षेत्र के लिए केवल एक मनोवैज्ञानिक पर्याप्त होगा । मनोविज्ञानिक की सहायतार्थ कुछ सहायक तथा एक उत्तम प्रयोगशाला का होना भी जरूरी है । व्यावसायिक मार्गनिर्देशन के प्रमुख कार्य होंगे संचित अभिलेखों को सम्भाल रखना, व्यवसायों से संबंधित विभिन्न स्थानों को समय-समय पर जाकर देखना तथा विभिन्न पाठ्यक्रम तथा व्यवसायों से संबंधित सूचनाएं तैयार रखना । उसे इस योग्य भी होना चाहिये कि वह साधारण अवस्था में मार्गनिर्देशन का काम भी कर सके । विषम अवस्था में रोगी को मनोवैज्ञानिक के पास भेज देना चाहिए ।

विश्वविद्यालयों में भी मार्गनिर्देशन के पाठ्यक्रम प्रारम्भ किये जा सकते हैं । बी० टी० के पाठ्यक्रम में मार्गनिर्देशन के सामान्य तथ्यों का सहज ही समावेश किया जा सकता है जिससे प्रत्येक अध्यापक मार्गनिर्देशक का भी थोड़ा बहुत काम कर सके ।

अभिलेखों से बहुत से व्यक्ति परिचित नहीं हैं यद्यपि वे इस क्षेत्र में काम करते हैं । अभिलेखों का रखना कोई नवीन वस्तु नहीं है इसका परीक्षणों से घनिष्ट संबंध है । परीक्षाएं भी उतनी ही प्राचीन चीज है जितनी अध्यापन । प्रो० फ्लेमिंग के शब्दों में प्रत्येक व्यक्ति के चार से लेकर दस ऐसे अभिलेख सुरक्षित रहने चाहियें जिनमें व्यक्ति पर स्वतन्त्र रूप से किए गए पाठ्य परीक्षणों का तथा व्यक्ति विषयक अध्ययन का निष्कर्ष हो । परीक्षणों के फल होते हैं और उन्हें सुरक्षित रखा जाता है । विश्वास किया जाता है कि इस प्रकार के अनेक परीक्षा फलों से एक की अपेक्षा अधिक सूचनाएं व्यक्ति के संबंध में प्राप्त हो सकती हैं । इस प्रकार के मापों के आधार पर मार्गनिर्देशन अधिक सुगम हो जाता है । इन अभिलेखों को गुप्त रखा जाता है । चिकित्सा के समय ही केवल इनका प्रयोग किया जाता है । ऐसा एक अभिलेख सदा तैयार रहना चाहिए । यदि कोई विद्यार्थी एक स्कूल से दूसरे में जाए तो अभिलेख उस स्कूल को देना चाहिए । इस अभिलेख में कितने ही विषयों के संबंध में

ज्ञात सामग्री हो सकती है। परन्तु उनमें से मुख्य विषय ये हैं :

(१) शिक्षा संबंधी—किस स्कूल में शिक्षा प्राप्त की, उपस्थिति; प्रिय पाठ्य-विषय अथवा सबसे कम रुचिकर विषय।

(२) प्रमाणित परीक्षणों के द्वारा अभिलक्षित स्तर—(१) अर्जित योग्यता (Attainment) (२) मानसिक योग्यता (Mental ability)।

व्यक्तिगत गुणावगुण—(१) अभिरुचियाँ (२) अभिवृत्तियाँ (३) योग्यता प्राप्ति आदि।

(४) गृह जीवन—परिवार में स्थान, अवकाश के समय में सर्वाधिक मनोरंजक कार्य, व्यवसाय यदि हो तो, कोई विशेष घरेलू परिस्थितियाँ आदि।

बहुधा शिक्षार्थी अन्य व्यक्तियों द्वारा की गई जाँच को ही सत्य और विश्वासनीय मानते हैं यही केवल ठीक नहीं उन्हें अपनी जाँच स्वयं करना सीखना चाहिए। यह काम भी मार्गनिर्देशन का है। यह रीति आत्मोन्नति का श्रेष्ठ उपाय है। अपने विषय में ज्ञातव्य विषय निम्न लिखित हैं :

(१) बुद्धि—प्रमाणित बुद्धि परीक्षणों की सहायता से बुद्धि सहज ही मापी जा सकती है। यह खेद की बात है कि हमारे देश में अभी इस प्रकार के परीक्षणों ने अधिक उन्नति नहीं की है परन्तु इधर भी विकास की पूर्ण आशा है। तब तक अध्यापक के निर्णय पर चलना शिक्षार्थी के लिए श्रेयस्कर हो सकता है। अपनी बुद्धि के बारे में जान कर कोई भी व्यक्ति अपनी योग्यता का सहज ही अनुमान लगा सकता है।

(२) अर्जित योग्यता—अर्थात भिन्न-भिन्न पाठ्य विषयों आदि में उसने कितनी योग्यता प्राप्त की है। यदि किसी व्यक्ति की गणित व

विज्ञान में अधिक योग्यता न हो तो उसकी इंजीनियर बनने की कोशिश सफल नहीं हो सकती।

(३) विशेष योग्यताएँ—अर्थात् किन-किन विशेष कार्यों में वह भाग लेता है। जिस कार्य में जिसकी अधिक रुचि होती है वह उसी में भाग लेता है। साथ ही उसे यह भी निश्चय कर लेना चाहिए कि वह भविष्य में क्या करना चाहता है। अभिरुचि परीक्षणों के द्वारा विभिन्न कार्यों में व्यक्ति की रुचि का माप किया जाता है। यह परीक्षण भी उसकी सहायता कर सकते हैं। भिन्न-भिन्न व्यवसायों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के परीक्षणों का आयोजन विदेशों में पाया जाता है। हमारे देश में अभी तक इस ओर भी कुछ कार्य नहीं किया गया है।

(४) व्यक्तिगत गुण—इनका ज्ञान प्राप्त करना भी परम आवश्यक है। कोई व्यक्ति अधिक सामाजिक होता है कोई अधिक मिलना-जुलना पसन्द नहीं करता। कोई व्यक्ति शीघ्र ही क्रुद्ध हो जाता है कोई शान्त रहता है। यदि आप अपने कार्यों पर विचार करें तो आप अपने इन गुणों का सहज ही अनुमान लगा सकते हैं।

(५) स्वास्थ्य—जब तक कोई व्यक्ति किसी विशेष रोग से पीड़ित न हो तब तक कोई विशेष चिन्ता की बात नहीं है। रोग को सहज ही स्वीकार नहीं कर लेना चाहिये वरन् किसी चिकित्सा विशेषज्ञ को अथवा स्कूल के चिकित्सक को दिखाकर उसका निदान कराना चाहिए।

संक्षेप में यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी भली प्रकार जाँच करे और साथ ही सुलभ पाठ्यक्रमों एवं व्यवसायों का सूक्ष्म अवलोकन करे तो वह इनमें अपनी योग्यता का कुछ-कुछ अनुमान लगा सकता है। इसके साथ ही व्यावसायिक मार्गनिर्देशक का निर्णय यदि मिल जाय तो वह व्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक सफल हो सकता है।

ऊपर के अनुच्छेदों में बार-बार इस बात पर बल दिया गया है कि

हमारे देश में मार्ग निर्देशन आन्दोलन के विषय में अधिक से अधिक अन्वेषण करने की आवश्यकता है। अभी तक हमारे पास न तो उपयुक्त प्रमाणित परीक्षण है न उपचार की विधियाँ हैं न कहीं से इस विषय में सूचना मिल सकती है कि किसी अध्ययन क्रम के अथवा किस व्यवसाय के लिए किन-किन बातों की आवश्यकता है। इन आधारभूत तथ्यों के बिना कुछ सफलता नहीं मिल सकती। अस्तु हमारी शिक्षा व्यवस्था में मार्ग-दर्शन की सम्यक् व्यवस्था करना हमारी सर्व प्रथम आवश्यकता है। आशा है इस महत्वपूर्ण विषय पर अब पूरा-पूरा ध्यान दिया जाएगा।

बाल-निर्देशन एवं बाल सुरक्षा

हमारे शिक्षालयों एवं घरों में अभी तक व्यावसायिक मनोविज्ञान वेत्ता को कोई विशेष उत्तरदायित्व पूर्ण स्थान प्राप्त नहीं है। शिक्षार्थीगण शिक्षा-मनोविज्ञान को कालिजों में ही पढ़ते हैं और पढ़ाई समाप्त करके उसे वहीं छोड़ आते हैं। यद्यपि अन्य देशों में इस विज्ञान ने बहुत प्रगति की है परन्तु हमारे देश के बच्चे अभी तक उसी पुरानी रूढ़ियों में बँधे हुए ढंग से पढ़ रहे हैं।

अध्यापक तथा बच्चों के माता-पिता पालक आदि बच्चों के व्यक्तिगत विकास के प्रति उदासीन हैं और प्रायः प्रत्येक बच्चे के साथ एक-सा ही व्यवहार करते हैं। इसके अतिरिक्त मानसिक व शारीरिक विकारों से पीड़ित बच्चों के लिए भी हमारे यहाँ कोई प्रबन्ध नहीं है। अन्धे व गूँगे, बहिरे बच्चों के लिए बहुत ही कम स्कूल हैं और जो हैं उनका संचालन आदि भी विशेष अच्छा नहीं है।

यह सत्य है कि यत्र-तत्र कुछ बाल-निर्देशन-केन्द्र हैं, परन्तु जहाँ तक मुझे ज्ञात है, साधारण जनता की पहुँच से ये बहुत दूर हैं। अनुभवी और प्रशिक्षित व्यक्तियों की संख्या अत्यल्प है।

आज कल इंगलैण्ड में प्रत्येक शैक्षणिक-विभाग में एक मनोवैज्ञानिक नियुक्त किया जाने लगा है। समस्त देश में लगभग सौ ऐसे केन्द्र हैं जिनमें अधिकतर निःशुल्क चिकित्सा की जाती है। नए विधान के अनुसार अब प्रत्येक ब्रिटिन-बालक का इलाज मुफ्त किया जायगा। अमरीका ने इस दिशा में और भी अधिक प्रगति कर ली है, वहाँ बच्चों के निर्देशन एवं सुरक्षार्थ उचित शिक्षित व्यक्ति की सेवा सहज ही उपलब्ध है।

भारत में उचित प्रशिक्षित मनोवैज्ञानिकों की कमी का विशेष कारण यह है कि हमारे महाविद्यालयों या विश्वविद्यालयों में साधन सम्पन्न प्रयोगशालाएँ बहुत कम हैं। इससे भी अधिक खेद की बात यह है कि ऐसे विश्वविद्यालय जहाँ प्रायोगिक-मनोविज्ञान की शिक्षा दी जाती है, प्राय: नगण्य ही हैं। यदि इस दिशा में कदम उठाया जाय तो हमारी बहुत-सी समस्याएँ सुलझ सकती हैं। उत्तर-प्रदेश की सरकार ने इलाहाबाद में एक 'ब्यूरो आफ साइकोलोजी' स्थापित किया है। सेन्ट्रल इन्स्टीट्यूट आफ ऐजूकेशन में भी एक 'क्लिनिक' बनाया गया है। अभी हाल ही में पंजाब प्रांत के शिक्षा-विभाग ने विद्वानों की एक समिति नियुक्त की है। आशा है यह कमेटी भी पंजाब-राज्य में ऐसे केन्द्र प्रारम्भ करने की योजना पर विचार करेगी। मेरे विचार से इस प्रकार की सुविधाएँ दिए बिना कोई शैक्षणिक कार्यक्रम सफल नहीं हो सकता।

इस विषय में कुछ सुझाव देने से पूर्व मैं संक्षेप में यह बता देना चाहता हूँ कि बाल-निर्देशन एवं बाल सुरक्षा से हमारा तात्पर्य क्या है और इन क्लिनिक्स का क्या काम है।

साधारणतः यह क्लिनिक्स उन बच्चों के लिए होते हैं जो वैसे तो मानसिक दृष्टि से सामान्य होते हैं परन्तु किन्हीं विशेष कारणों से उनके आचरण में कुछ ऐसी बातों का समावेश हो जाता है जो अवांछनीय हैं। ऐसे बच्चों का भली प्रकार अध्ययन करके ऐसे आचरण का कारण खोजा जाता है और तदनुकूल उनका उपचार भी किया जाता है। यह आवश्यक है कि प्रत्येक बच्चे पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान दिया जाए। ये क्लिनिक्स माता-पिता, पालक एवं अध्यापकों को बच्चों की देख-भाल करने, उनका उचित पालन-पोषण आदि करने के विषय में भी निर्देशन देते हैं। मानसिक और शारीरिक विकारों से पीड़ित बालकों के लिए अलग क्लिनिक्स होते हैं।

सामान्य बालकों में भिन्न-भिन्न समस्याओं का उद्भव होता है यह

जानना भी मनोरंजक होगा। कुछ बच्चे संकोची और संवेदनात्मक होते हैं, भारत में ऐसे बच्चों की समस्याएँ बड़ी जटिल हैं। ये बच्चे औरों से विलग रहते हैं, कुछ बच्चे व्यर्थ के भय या आतंकों से पीड़ित रहते हैं। क्लिनिक्स बच्चों को इन कठिनाइयों से मुक्ति दिलाने में सहायता करते हैं और वे सामान्य बच्चों की भाँति हो जाते हैं।

कुछ बच्चों को नियंत्रण में रखना अत्यन्त कठिन होता है, सम्भवतः इसका विशेष कारण यह है कि उन्हें अपनी शक्ति के प्रयोग का सही ठीक अवसर नहीं मिलता। ऐसे बच्चों को उचित निर्देशन प्रदान करके क्लिनिक्स उनकी विशेष शक्ति को उचित दिशा में लगा कर उनके सुगठित व्यक्तित्व का निर्माण कर सकते हैं।

बहुधा क्लिनिक्स में ऐसे बच्चे भी आते हैं जो साधारणतया सामान्य होते हैं परन्तु कक्षा की पढ़ाई में पिछड़े रहते हैं। क्लिनिक्स ऐसे बच्चों को उनकी शक्तियों का पूर्ण प्रयोग करने में सहायता देते हैं। बहुधा इन बच्चों को कक्षा के अन्य बच्चों के बराबर लाने के लिए व्यक्तिगत रूप से ध्यान देने की आवश्यकता होती है।

बालकों में सद्गुणों का निर्माण करने में माता-पिता व अध्यापकों का विशेष उत्तरदायित्व है। बहुत से बच्चों में 'अंगूठा चूसने' आदि के दुर्गुण काफी बड़े होने तक बने रहते हैं। क्लिनिक्स बच्चों के दुर्गुणों को दूर करके उनमें सद्गुण डलवाने में सहायक सिद्ध होते हैं।

चोरी की आदत हमारे यहाँ के बच्चों में बहुधा पाई जाती है। चोरी करने का बहुत बार कारण यह होता है कि माता-पिता बच्चों को उनकी इच्छित वस्तु नहीं देते या उनसे चीजें दूर रखते हैं। इसके अतिरिक्त जिन बच्चों की कुछ इच्छाएँ अपूर्ण रह जाती हैं उनमें भी चोरी की बान पड़ जाती है। यदि प्रारम्भ से ही उन्हें न रोका जाय तो यह अपराध बढ़ते-बढ़ते बच्चे को अच्छा खासा चोर बना देता है, अस्तु विशेषज्ञों से परामर्श लेकर शीघ्रातिशीघ्र इसका उपचार करा देना चाहिए।

कुछ बच्चों को बोलने में कठिनाइयाँ होती हैं जैसे तुतलाना, हकलाना आदि। इन रोगों का इलाज तो विशेषज्ञों से कराना चाहिए।

झूठ बोलने की आदत भी बच्चों में प्रारम्भिक अवस्था में ही पड़ती है। घर के व्यक्ति इनका उपचार नहीं कर सकते, अतएव ऐसे बच्चों के लिये भी ये क्लिनिक्स लाभदायक हो सकते हैं।

अस्तु, माता-पिता एवं अध्यापकों के रूप में, अपने बच्चों के निर्देशन व सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध करना हमारा कर्तव्य है। जिससे हमारे बच्चे सामान्य मानव बन सकें और जीवन की प्रगति के लिये उनमें आवश्यक सद्गुणों का प्रादुर्भाव हो सके।

इन सब बातों को देखते हुए मैं यह अनिवार्य समझता हूँ कि प्रत्येक शिक्षा विभाग की ओर से एक मनोवैज्ञानिक शाखा स्थापित हो। प्रत्येक राज्य में एक प्रशिक्षित मनोवैज्ञानिक हो और उनके साथ काम करने वाले अन्य सहायक भी इस विषय में उचित शिक्षा प्राप्त हों। इसी प्रकार प्रत्येक जिले में उपयुक्त साधन सहज ही उपलब्ध होने चाहिएँ। यथा-सम्भव प्रत्येक स्कूल में एक प्रशिक्षित मनोवैज्ञानिक होना चाहिए जिससे वह छोटी-मोटी कठिनाइयों की देखभाल कर सके और अधिक जटिल बच्चों को क्लिनिक्स में भेज सके।

अपने ट्रेनिंग-कालेजों में हम शिक्षा-मनोविज्ञान का ज्ञान बहुत ही सीमित रूप में देते हैं। मेरा विचार है कि हमें प्रायोगिक मनोविज्ञान के मूल सिद्धान्तों एवं व्यावहारिक रूप को शिक्षा अनिवार्य बना देनी चाहिए; जिससे प्रत्येक अध्यापक स्वयं में एक मनोवैज्ञानिक बन सके। इस प्रकार हमारे विश्वविद्यालय एक पृथक मनोविज्ञान-विभाग स्थापित करके हमें प्रशिक्षित विद्वानों की सेवाएँ दिलाने में सफल होंगे। इस कार्य के लिये अल्पकालीन शिक्षण भी लाभदायक हो सकते हैं।

इसके अतिरिक्त मानसिक व शारीरिक विकारों से ग्रस्त बच्चों की

देखभाल, शिक्षा व निर्देशन के लिये भी हमारे यहां कुछ विशेष स्कूल होने चाहिएँ। ऐसे बच्चों की आवश्यकतायें सामान्य बच्चों की आवश्यकताओं से भिन्न होती है, अतएव इन बच्चों को सामान्य बच्चों के साथ रखना शैक्षणिक व नैतिक दोनों ही दृष्टि से अवाछनीय है।

मनोवैज्ञानिक खोज ने इस तथ्य को ढूँढ निकाला है कि प्रत्येक मनुष्य की व्यावसायिक रुचि एक दूसरे से भिन्न होती है। अतएव यदि हम व्यावसायिक उन्नति करना चाहते हैं तो प्रत्येक व्यवसाय के लिए व्यक्तियों का निर्वाचन करने में उनकी रुचि व योग्यता का ध्यान रखना चाहिए। हमारे यहां अभी तक व्यावसायिक निर्देशन का भी कोई विशेष प्रबन्ध नहीं है। अपनी शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् मनुष्य समस्त व्यवसायों के लिए प्रयत्नशील रहता है और जहाँ भी स्थान मिल जाता है उसी व्यवसाय को अपना लेता है। इगलैंड के बड़े-बड़े शहरों में शिक्षा समाप्त करने वाले व्यक्तियों के व्यावसायिक-निर्देशनार्थ उचित प्रबन्ध है। इसी प्रकार अमरीका में भी व्यावसायिक निर्देशन के कार्य में बहुत प्रगति हुई है।

हमारे देश में भी इस प्रकार की व्यवस्था की आवश्यकता है। प्रत्येक शैक्षणिक क्षेत्र में (जो वर्तमान नगरपालिका या नोटीफाइड क्षेत्र के समान है) इंगलैंड की सुरक्षण संस्थाओं (Care Committee) के समान ही संस्थायें होनी चाहियें। स्कूल जाने वाले बच्चों के स्वास्थ्य की देख-रेख करना तथा उन्हें उचित निर्देश देना इन संस्थाओं का काम होना चाहिये। स्पष्ट है कि इन संस्थाओं के लिए हमें विद्वान मनोवैज्ञानिकों की आवश्यकता होगी। इसके साथ ही एक स्वास्थ्य आफीसर भी होना चाहिए। इन दोनों की नियुक्ति पूरे समय के लिए होगी।

ग्रामों की समस्या कुछ कठिन हो सकती है, परन्तु इसका भार डिस्ट्रीक्ट बोर्डस को अपने ऊपर लेना चाहिए।

यहां क्लिनिक के कार्य के विषय में भी कुछ कह देना उपयुक्त होगा।

निर्देशन के लिए मुख्य और सर्व प्रथम आवश्यकता समस्या की उचित जांच करके उसके ठीक रूप का ज्ञान प्राप्त करना है। इसके लिए निर्देशक को स्वयं उस व्यक्ति से तथा उसके माता-पिता परिचितों आदि से बातचीत करनी होती है और व्यक्ति विशेष के गुणावगुणों का पूरा लेखा तैयार करना होता है। शिक्षार्थियों को इन क्लिनिक्स में भेजना स्कूलों का कर्तव्य है। निर्देशक से पहले समय ले लेना उपयुक्त होगा। यदि बच्चे की कठिनाइयों आदि के विषय में निर्देशक को पहिले से ही बता दिया जाय, तो निर्देशक को उसकी परीक्षा करने में सुगमता हो सकती है। बुद्धि-परीक्षण, अभिवृत्ति-परीक्षण तथा अन्य परीक्षणों से भी निर्देशक को बच्चे के व्यक्तित्व के विषय में पर्याप्त ज्ञान प्राप्त हो सकता है। उदाहरणार्थ इनसे निर्देशक को यह मालूम हो सकता है कि वह बच्चा सब तरह से कक्षा में पिछड़ा हुआ है या केवल एक विषय में ही। बच्चा मंदबुद्धि है या उसमें केवल बुद्धि अवरोध है। अवरोध का कारण कोई संवेगात्मक घटक, मानसिक घटक; शिक्षा ग्रहण करने में किसी विशेष प्रकार की कठिनाई, या केवल कोई वातावरण से सम्बन्धित घटक हो सकता है।

कभी-कभी बच्चों में कुछ शारीरिक विकृतियां होती हैं। उसके लिए भी बच्चों के रोगों में विशेषज्ञ चिकित्सक की सहायता अपेक्षित है। अतएव, प्रत्येक बाल-निर्देशन संस्था के साथ ही एक चिकित्सक का रहना भी अनिवार्य है।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि चिकित्सक के परीक्षा कर लेने पर साधारण उपचार से ही बच्चे का रोग दूर हो जाता है। कभी-कभी यदि माता-पिता को उचित परामर्श दे दिया जाय तो वे ही सावधानी रखकर बच्चे को रोग से मुक्त कर सकते हैं। विशेषज्ञ द्वारा चिकित्सा

की आवश्यकता जटिल रोगों में ही पड़ती है। ऐसे अवसरों पर बच्चों को अनेक बार क्लिनिक्स में जाना पड़ता है; माता-पिताओं को भी उनके साथ जाना होता है और उनकी चिकित्सा में हिस्सा लेना होता है। इसका विशेष कारण है माता-पिता को बच्चे के रोग के कारणों से परिचित कराना जिससे वे आगे उनका निवारण कर सकें; इसी कारण से कभी-कभी अध्यापकों के सहयोग की भी अत्यन्त आवश्यकता रहती है।

"बच्चे को उसकी प्रौढ़ अवस्था में उसकी शक्तियों के अनुकूल उपयोगी और सुखी बनाना", इस मनोवैज्ञानिक चिकित्सा का उद्देश्य है 'परीक्षा' करके उसकी शक्तियों का परिचय प्राप्त किया जाता है और चिकित्सा द्वारा उनको सदुपयोगी बनाया जाता है। बच्चे में अपार शक्ति होती है पर कभी-कभी वह गलत दिशा में लग जाती है। कोई-कोई बच्चा बुद्धिमान होता है परन्तु साथ ही भावुक अधिक है। ऐसा बच्चा जो काम करता है वह यद्यपि उसकी योग्यता के लिये सरल हो तो भी उसे अत्यन्त असफलता का आभास होता है।

शारीरिक रोगों के लिये एक चतुर डाक्टर सारीडॉन या एस्प्रीन की गोलियां देने की अपेक्षा उस रोग का मूल कारण जानने का प्रयास करता है, क्योंकि वह यह जानता है कि कुछ देर के लिये रोग दूर कर देने की अपेक्षा उसकी जड़ ही नष्ट कर देना अधिक अच्छा है। इसी प्रकार मनोवैज्ञानिक चिकित्सा में भी केवल बाह्य-सूचना प्राप्त कर लेना मात्र ही पर्याप्त नहीं। यदि हम किसी बच्चे का कोई दुर्गुण सचमुच ही दूर करना चाहते हैं तो हमें उसके मूल कारण की खोज करनी चाहिये। दण्ड देने से बच्चे की खराब आदत नहीं छुड़ाई जा सकती। हमें इससे गहरे बैठ कर उसका कारण खोजना होगा।

संवेगात्मक-विकृतियों का प्रादुर्भाव बच्चे के सुषुप्त-मन में होता है। दमन की हुई भावनाएँ बालक के सुषुप्त-मन में रहती हैं। उन्हीं से

स्नायविक कठिनाइयां उत्पन्न हो जाती हैं। चिकित्सा की अवधि में चिकित्सक इन्हें उस स्तर से ऊपर लाने का प्रयत्न करता है।

अन्धापन, गूंगापन, बहिरापन आदि विशेष विकृतियों से ग्रस्त बच्चों की शिक्षा के लिये विशेष अध्ययन-विधियों का प्रयोग किया जाता है। यदि इन विधियों द्वारा शिक्षा दी जाये तो उत्तम परिणाम निकलते हैं। शिक्षा प्राप्त करके वह बच्चा उतना अधिक निःसहाय नहीं रहता जितना शिक्षा द्वारा प्राप्त न करने से रहता है।

मानसिक चिकित्सा की आवश्यकता तब ही पड़ती है जब कोई विशेष मानसिक विकार हो और उसके स्थायी बने रहने की आशंका हो।

माध्यमिक शिक्षा में सुधार

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् अब तक भारत की स्थिति एवं अवस्थाओं में जो परिवर्तन आए हैं उन सबका अध्ययन अब हमें सूक्ष्म रूप से करना चाहिये। हमें यह निर्णय करना है कि जो शिक्षा-पद्धति लगभग डेढ़ सौ वर्ष से भारत में प्रचलित रही है क्या वह अब भी हमारे लिये उपयुक्त है? हमारे वर्तमान विद्यार्थियों के उत्तरदायित्व अब बहुत बड़े और विशाल हो गये हैं क्या इनके लिये भी वही पुरानी शिक्षा परिपाटी उपयुक्त रहेगी? इस प्रश्न के उत्तर में सब वर्तमान प्रणाली के प्रति असन्तोष प्रकट करेंगे, क्योंकि सब भारतीय यह जानते हैं कि यह शिक्षा प्रणाली हमारे भारतीय-जीवन एवं परम्पराओं से बहुत भिन्न है। यह न तो हमारे विद्यार्थियों में विचार-शक्ति का विकास करती है और न ही उनकी रचनात्मक-शक्ति का।

१९४७ में युनिवर्सिटी कमीशन तथा १९५२ में सेकेण्डरी-एजूकेशन कमीशन की नियुक्ति इस बात की सूचक है कि अब अधिकारी वर्ग का ध्यान जनता की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की ओर आकृष्ट होने लगा है। प्राथमिक-शिक्षा के लिये बेसिक-पद्धति का महत्व सर्वसम्मत है और अब शीघ्र ही सारे प्राथमिक-स्कूलों में महात्मा गांधी जी के आदर्श के अनुकूल शिल्प को माध्यम बनाकर शिक्षा देने की पद्धति प्रारम्भ कर दी जायगी।

माध्यमिक शिक्षा अभी तक हमारे शिक्षा-सोपान का सबसे कमजोर भाग है। उसमें अविलम्ब आवश्यक सुधार की आवश्यकता है। हमारी वर्तमान माध्यमिक शिक्षा केवल किताबी शिक्षा है, इसका उद्देश्य केवल युनिवर्सिटी में प्रवेश पाना तथा अन्य पदों की प्राप्ति मात्र रह गया है।

सेकेण्डरी-ऐजूकेशन कमीशन की नियुक्ति से प्रतीत होता है कि सरकार माध्यमिक शिक्षा के इस अनुचित, दूषित एवं संकीर्ण रूप से असन्तुष्ट है और अब उसमें आवश्यक परिवर्तन करने के लिये विशेष उत्सुक है। अब सब यह महसूस करने लगे हैं कि 'सेकेण्डरी-ऐजूकेशन' या 'माध्यमिक शिक्षा' शब्द के अर्थ एवं उद्देश्य अधिक विस्तृत हैं, विशेषकर जनतन्त्रात्मक राज्य में; जहां के प्रत्येक बच्चे को पूर्ण एवं लाभप्रद जीवन व्यतीत करने के योग्य शिक्षा प्रदान करना सरकार का कर्तव्य है। अस्तु: सेकेण्डरी ऐजूकेशन कमीशन की नियुक्ति का उद्देश्य यही था कि कमीशन सेकेण्डरी-शिक्षा के उद्देश्यों, प्रयोजनों, पाठ्य-सामग्री (पाठ्यक्रम), विधियां तथा उनके व्यावहारिक रूप के सम्बन्ध में सूक्ष्म अध्ययन करके अपने सुझाव प्रस्तुत करे। कमीशन की रिपोर्ट अब हमारे सामने है। कमीशन ने इसमें से कुछ समस्याओं का सुन्दर समाधान हमारे सामने रखा है परन्तु इस रिपोर्ट को हम "क्रान्तिकारी" नहीं कह सकते। सेकेण्डरी-ऐजूकेशन कमीशन की रिपोर्ट छपने से कुछ सप्ताह पूर्व नरेन्द्र देव कमेटी (उत्तर प्रदेश सरकार) ने सेकेण्डरी शिक्षा के सम्बन्ध में जो रिपोर्ट प्रस्तुत की थी उसमें कुछ हद तक अधिक अच्छे एवं उपयोगी सुझाव दिये गये हैं। भारत के विभिन्न राज्यों में सेकेण्डरी शिक्षा का रूप निश्चित करने से पहिले शिक्षा के आचार्यों को दोनों रिपोर्टों का भली भांति अध्ययन करना चाहिए। सर्वप्रथम कमीशन ने सेकेण्डरी-शिक्षा के उद्देश्यों की चर्चा करते हुए उनकी अधिक विस्तृत अर्थों में व्याख्या की है, जनतंत्र भारत की जनतन्त्रात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति ही इस नव निर्माण का आधार है। यदि सूक्ष्म रीति से परखा जाए तो हम देखेंगे कि केवल भारत ही नहीं, वरन् समस्त जनतन्त्रात्मक राज्यों की आवश्यकताएं एक सी हैं, अतएव कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में उन्हीं बातों को दुहरा दिया है जो हमें अन्य अनेक शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकों में मिलती हैं, उन्होंने कोई नये सुझाव नहीं दिये। कमीशन ने इस बात पर बल दिया है कि सेकेण्डरी-शिक्षा को प्रभावात्मक एवं उपयोगी बनाने के लिये यह आवश्यक है कि

(क) ह्यूमेनीटीज (ख) साइन्सेज (ग) टैक्निकल-विषय (घ) कमर्शल-विषय (ङ) कृषि (च) ललित कलाएँ (छ) गृह-विज्ञान—अन्यतः जहाँ जिस प्रकार आवश्यकता हो अतिरिक्त विषय बढ़ाये जा सकते हैं।

इस प्रकार के पाठ्यक्रम प्रायः प्रत्येक राज्य में बनाये जा चुके हैं। कहीं-कहीं प्रारम्भ भी किये जा चुके हैं। अतएव कमीशन के तत्सम्बन्धी सुझाव केवल पुनरावृत्ति मात्र प्रतीत होते हैं।

उत्तर-प्रदेश में इन्टरमीजियट-स्टेज को भी हायर-सेकेण्डरी स्कूलों में मिला दिया गया है, अन्तिम चार वर्षों को दो वर्गों में बाँट रखा है, ९ और १० तथा ११-१२ श्रेणियाँ। नरेन्द्र देव कमेटी ने दोनों वर्गों के लिये भिन्न-भिन्न पाठ्यक्रम निर्धारित किए हैं। पाठ्यक्रम में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने हिन्दी-पत्र में संस्कृत को भी अनिवार्य स्थान दिया है तथा उसी का एक भाग बना दिया है। पाठ्यक्रम में संस्कृत को मुख्य स्थान देने का प्रमुख कारण यह है कि संस्कृत की सम्यक् शिक्षा हिंदी का ज्ञान प्राप्त करने में सहायता करती है। संस्कृत पढ़ने से विद्यार्थियों के सांस्कृतिक, सामाजिक एवं नैतिक विचारों को प्रेरणा प्राप्त होती है।

उत्तर-प्रदेश के नवीन पाठ्यक्रम में निम्नलिखित विषयों का समावेश किया गया है :—

९ तथा १० श्रेणियाँ :—(१) हिंदी-संस्कृत उसका एक मुख्य भाग है (२) हिंदी के अतिरिक्त एक अन्य आधुनिक भारतीय भाषा अथवा एक आधुनिक योरोपीय भाषा (३) गणित अथवा गृह-विज्ञान (केवल लड़कियों के लिए) (४) निम्नलिखित वर्ग में से कोई सा एक वर्ग:—(क) साहित्य (ख) विज्ञान (ग) कृषि (घ) प्रि-टेक्निकल (ङ) कला (कुल छः विषय)।

११ तथा १२ श्रेणियाँ :—१ तथा २ उपरोक्त वर्ग के समान ३ नीचे के वर्गों में से कोई एक (क) साहित्य (ख) विज्ञान (ग) कला (घ) कृषि (ङ) कामर्स (कुल पाँच विषय)।

इस पाठ्यक्रम को प्रारम्भ करने में दो प्रमुख बातें सामने आती हैं। पहली बात तो यह है कि वर्तमान प्रचलित स्कूलों में यह परिवर्तन किया जावे और केवल कुछ महत्त्वपूर्ण विषय ही प्रारम्भ में रखे जाएं तब भी इस नवीनता को प्रारम्भ करने के लिये पर्याप्त धन की आवश्यकता है। दूसरी बात यह है कि यदि विद्यार्थियों के लिये उचित एवं विश्वसनीय मार्ग-निर्देशन (guidance) का प्रबन्ध नहीं किया गया तो यह योजना अधिक सफल नहीं हो सकेगी। मार्ग-निर्देशन की व्यवस्था करने के लिये भी केन्द्रीय एवं राज्य की सरकारों को काफी धन व्यय करने की आवश्यकता पड़ेगी। यदि धन के अभाव के कारण इन सुझावों को कार्यरूप में परिणित नहीं किया गया तो भी उचित नहीं होगा।

सैकेण्डरी-शिक्षा के लिए किस प्रकार अधिक धन प्राप्त किया जा सकता है इस विषय में भी कमीशन ने कुछ सुझाव दिये हैं। 'इण्डस्ट्रियल एजूकेशन सेस' का जिक्र पहले ही किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त कमीशन ने यह सुझाव भी दिया है कि राष्ट्रीय उद्योगों एवं बन्दरगाहों आदि की आय का कुछ अंश भाग टेक्निकल शिक्षा के लिए देना चाहिए। आय कर, सम्पत्ति कर तथा कस्टम-ड्यूटी इत्यादि में भी शिक्षा के निमित्त पैसा देने का सुझाव दिया गया है। इसके अतिरिक्त इस सम्बन्ध में कमीशन ने भी वही पुराना सुझाव और दिया है कि केन्द्रीय सरकार को सैकेण्डरी-शिक्षा की उन्नति के लिए अधिक से अधिक धन देने का प्रयत्न करना चाहिए। धन की यह समस्या ऐसी है जिस पर सब ओर से पूरा पूरा जोर देने की आवश्यकता है अन्यथा सैकेण्डरी-एजूकेशन कमीशन की रिपोर्ट भी शायद केवल आलमारियों की शोभा बढ़ाने के ही काम आवेगी।

पाठ्य-पुस्तकों के सम्बन्ध में भी कमीशन ने असन्तोष प्रकट किया है। यद्यपि कमीशन ने पाठ्य-पुस्तकों के महत्त्व को पूरी तरह स्वीकार किया है परन्तु वह वर्तमान पाठ्य-पुस्तकों के विषय, गेट-अप आदि से

बच्चों का महीने में अथवा पन्द्रह दिन में एक बार टैस्ट अवश्य लेते हैं जिससे उनकी दैनिक प्रगति का पता चल जाय। इन टैस्टों या तथा बच्चों को जो घर का काम दिया जाता है उसका पूरा रिकार्ड रखा जाता है; बच्चों के माता-पिता के पास बच्चों की मासिक रिपोर्ट भेजी जाती है। यह रिपोर्ट केवल उनकी पढ़ाई-लिखाई के बारे में ही नहीं होती, वरन् उनके अन्य कार्यों की भी होती है। इन रिपोर्टों को यथा-शक्ति रोचक एवं लाभदायक बनाने का प्रयास किया जाता है। इसके अतिरिक्त वर्ष में तीन बार उनकी परीक्षा भी ली जाती है। इसका समय तो निश्चित होता है परन्तु यह नहीं बताया जाता कि किस विषय की परीक्षा किस दिन होगी। वर्ष के अन्त में क्लास टीचर प्रत्येक बच्चे का रिकार्ड तैयार करके उन्हें अन्य अध्यापकों की मीटिंग में उनके सामने रखता है। विभिन्न विषयों में बच्चे की प्रगति पर उसका उत्तीर्ण, अनुत्तीर्ण होना निर्भर करती है। कभी-कभी अध्यापकों की सम्मिति पर किसी विद्यार्थी को वर्ष के बीच में भी दूसरी कक्षा में चढ़ा दिया जाता है। किसी-किसी बच्चे को किसी विशेष विषय के लिए ऊँची कक्षा के साथ पढ़ने की अनुमति भी दी जाती है। इस बात की पूरी कोशिश की जाती है कि बुद्धिमान् एवं चतुर बालकों की प्रगति में कोई व्यवधान न पड़े।

अस्तु, स्पष्ट है कि इस स्कूल में बच्चों की उन्नति उनके दैनिक काम पर निर्भर करती है। अन्य स्कूलों में जिस तरह परीक्षाएं होती हैं वह रीति इस स्कूल में नहीं है। हमने 'औपचारिक परीक्षाओं' तथा 'परीक्षाएँ बिल्कुल न हों' इन दोनों सीमाओं से दूर रहकर मध्य में रहने का प्रयत्न किया है।

कमीशन ने शैक्षणिक प्रक्रिया में अध्यापक के महत्व पर बहुत बल दिया है और यह ठीक भी है। शिक्षा की सफलता अध्यापक की निपुणता पर निर्भर करती है, क्योंकि अध्यापक ही शिक्षा के सिद्धान्तों, उसके

तत्वों को कार्यरूप में परिणित करने का एकमात्र साधन है। अस्तु, उत्तम, गुणवान एवं सुयोग्य अध्यापकों को इस क्षेत्र में लाने की एक बड़ी समस्या है। यह तब ही हो सकता है जब हम इस व्यवसाय को आकर्षक बनायें तथा अध्यापकों का प्रशिक्षण एवं चुनाव ठीक-ठीक हो। कमीशन ने इसके लिए आकर्षक तनख्वाह देने का सुझाव दिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी मत प्रगट किया है कि अध्यापक को उसकी योग्यता के अनुकूल वेतन देना चाहिए, वह किस स्कूल में पढ़ाता है अथवा किस पद पर है यह बातें उसका वेतन निश्चित करने का मापदण्ड नहीं होनी चाहियें। अध्यापकों के लिए पेंशन प्रोवीडेंट-फंड; इन्श्योरेंस की योजना सारे राज्यों में स्वीकार कर लेने का भी उन्होंने सुझाव दिया है। जिससे अध्यापक अधिक लगन से काम करें तथा उनकी कुशलता बढ़े। इस व्यवसाय को अधिक आकर्षक बनाने के लिये उन्होंने यह सुझाव भी दिया है कि अध्यापकों के बच्चों को निःशुल्क शिक्षा दी जाय तथा उनकी तथा उनके परिवार की चिकित्सा निःशुल्क की जाय। पचायत बोर्ड बनाने का यह लाभ अवश्य होगा कि स्कूल के संचालक अध्यापकों को स्वयं परेशान न कर सकेंगे।

ट्रेनिंग-कालिजों के लिए विद्यार्थियों एवं अध्यापकों का चुनाव करना एक जटिल समस्या है, परन्तु आश्चर्य की बात है कि कमीशन ने इस ओर बहुत ही कम ध्यान दिया है। कलाकार के समान अध्यापक में भी अध्यापन का गुण (कला) जन्मजात होता है। यह आवश्यक नहीं कि एक विद्वान अच्छा अध्यापक भी हो। इसलिये अध्यापक का चुनाव करते समय ध्यान रखना चाहिए कि जिस व्यक्ति की इस काम में स्वाभाविक रुचि हो उसे ही चुना जाय। हमारा विचार तो यह है कि जो व्यक्ति अध्यापक बनना चाहे उसे अपने जीवन में जल्दी ही निश्चय कर लेना चाहिये। इससे यह लाभ होगा कि वह इन्टर, बी० ए० में ऐसे ही विषय पढ़ेगा जो उसके भावी व्यवसाय में काम आयें। इस सम्बन्ध में हमारा सुझाव यह है कि जो व्यक्ति अध्यापक बनना चाहते हैं उनके

लिये चार वर्ष का विशेष पाठ्यक्रम होना चाहिये। इन चार वर्षों में से तीन वर्ष यूनिवर्सिटी में तथा एक वर्ष का कोर्स ट्रेनिंग-कालेज में होगा। डिग्री-कोर्स में उन्हें शिक्षा के दर्शन एवं व्यावहारिक रूप का कुछ अध्ययन अवश्य करना चाहिये। जो अध्यापक स्कूलों में काम कर रहे हैं उनके लिए भी रिफ्रेशर्स कोर्सों का आयोजन अवश्य होना चाहिये जिससे अपने विषय की नवीनतम बातें उन्हें मालूम हो सकें।

सेकेंडरी-स्कूलों को आदर्श बनाने के लिये दो मुख्य बातें कमीशन ने और स्वीकार की हैं। उनका मत है कि स्कूलों की बातों में अधिकारी-वर्ग की ओर से व्यर्थ एवं अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये, स्कूलों को अपनी बातों, समस्याओं आदि के समाधान की स्वतन्त्रता होनी चाहिये, अन्यथा अध्यापकों की समस्त रचनात्मक शक्तियों का दमन हो जाता है, वे स्वयं कुछ करने को तैयार नहीं होते। अपनी-अपनी श्रेणियों में अपने-अपने विचारों के अनुकूल काम करने की स्वतन्त्रता सब अध्यापकों को होनी चाहिये। कमीशन का यह सुझाव सर्वमान्य है। आज का युग प्रयोगवादी है। शिक्षा एक गत्यात्मक विज्ञान है, और स्कूलों में किये गये प्रयोगों पर ही इसकी उन्नति अथवा गति निर्भर है। इस संबंध में पंजाब-शिक्षा-विभाग ने जो प्रयत्न किये हैं उनका उल्लेख करना अनुचित न होगा। पंजाब-राज्य में कुछ स्कूलों को शिक्षा-विभाग ने पूर्ण स्वतन्त्र कर दिया है। पाठ्यक्रम निर्धारित करना, पाठ्य-पुस्तकों का चुनाव करना, अध्यापन-विधियों का चुनाव करना, परीक्षा तथा पाठ्य-क्रमेत्तर क्रियाओं का आयोजन करना आदि बातों में स्कूलों को पूरी स्वतन्त्रता प्रदान करदी गई है।

यह मेरा दृढ़ विश्वास रहा है कि स्कूलों के दैनिक कार्य-क्रम के पश्चात् यदि उनका प्रयोग कम्यूनिस्ट-सेन्टर्स के रूप में किया जाये तो हमारी समाज-शिक्षा योजना को बहुत सहायता हो सकती है। इसके अतिरिक्त बच्चों के माता-पिता उन स्कूलों के अधिक सम्पर्क में आ सकते

है जिनमें उनके बच्चे पढ़ते हैं। बच्चों की शिक्षा की सफलता माता-पिता तथा स्कूल दोनों के सहयोग पर निर्भर करती है। दोनों जितने अधिक और निकट सम्पर्क में आयेंगे उतना ही अच्छा है। कमीशन ने भी यह सुझाव दिया है और मुझे आशा है कि इस क्षेत्र में काम करने वाले व्यक्ति इस ओर ध्यान दें।

शिक्षा की उन्नति में शिक्षक का महत्वपूर्ण स्थान

हमारे देश में बारम्बार, समय-समय पर, शिक्षकों को अपने अधिकारों के लिए लड़ना पड़ता है। इसका प्रथम कारण तो यह हो सकता है कि हम अध्यापक के महत्व को अच्छी तरह नहीं समझते। दूसरा कारण यह हो सकता है कि हमारी श्रद्धा की भावना अनुकूल आदर्शों पर अवलम्बित नहीं है। इनमें दूसरा कारण ही अधिक सत्य प्रतीत होता है क्योंकि दीर्घकाल तक दासता के बंधन में जकड़े रहने के कारण हमने अपने जीवन में केवल अर्थ व शक्ति पर ही श्रद्धा करना सीखा है। सदाचार, कृतज्ञता आदि सद्गुणों की हमने सदा ही हँसी उड़ाई है। अतः स्वतन्त्र शिक्षा की सफलता के लिए शिक्षा के विषयों व साधनों आदि में भी परिवर्तन होना चाहिए। किन्तु परिवर्तन में समय लगता है। इस समय जनता से अधिक आशा करना अत्याचार है। इस कार्य का भार केवल शिक्षकों पर ही नहीं वरन् शिक्षा-विभाग पर भी है।

शिक्षकों का वेतन तथा प्रशिक्षण

अध्यापकों का वेतन, यदि अधिक नहीं तो, अन्य समान योग्यता के सरकारी पदाधिकारियों के वेतन जितना अवश्य होना चाहिए। इस विषय में कुछ प्रान्तीय सरकारों ने थोड़ा बहुत कार्य किया है, किन्तु वह अभी आदर्श से बहुत दूर है। यदि शिक्षा-व्यवसाय में यथार्थ उन्नति हो

जाय तो निश्चय ही योग्य व्यक्ति इस ओर आकर्षित होंगे । उन्नति में शिक्षकों के प्रशिक्षण का उचित प्रबन्ध भी समाविष्ट होना चाहिए ।

संस्थाओं का ठोस व्यवसायात्मक कार्य

व्यक्तिगत व सहायता द्वारा संचालित शिक्षा-संस्थाओं (Private and aided institutions) में बहुत परिवर्तन की आवश्यकता है । यह संस्थाएँ अधिकतर ठोस व्यवसायात्मक होती हैं । उनकी दृष्टि मूलतः आर्थिक लाभ पर ही रहती है । शिक्षा-व्यवसाय के पतन का यही कारण है तथा इसी कारण यह इतना हीन कार्य समझा जाने लगा है । अतः इन संस्थाओं की ओर से सतर्क रहना चाहिए तथा यथासाध्य उन्हें अपेक्षित दिशा में मोड़ना चाहिए । "विश्वविद्यालय आयोग" की ही भाँति इस कार्य के लिए भी एक कमीशन बैठाना चाहिये ताकि वह इस विषय में यथोचित जाँच-पड़ताल करके कुछ रचनात्मक और व्यावहारिक सुझाव दे सके ।

शिक्षक के निजी कर्त्तव्य

यह सब हो जाने पर भी शिक्षक को अपने अधिकारों की रक्षा के लिये स्वयं अकेला ही लड़ना पड़ेगा । इसके लिये शिक्षक को चाहिये कि वह अपने आत्म-सम्मान व योग्यता की भावना का विकास करे और देशवासियों को यह दिखा दे कि वह भी देश के लिये एक महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है ।

आधुनिक संसार में श्रद्धा व मान का भागी बहुधा वही होता है जिसके पास धन व उच्च पद हों । शिक्षकों में लौकिक दृष्टि से इन दोनों चीजों का अभाव-सा है । तो क्या आश्चर्य कि उनकी दशा ऐसी दयनीय है । परन्तु यह दृष्टिकोण ही भ्रान्ति-मूलक है जिसे हमें सुधारना है ।

हमारे सामने हैराल्ड लास्की व आइन्स्टाइन के उदाहरण हैं जिनके सम्मुख राजा व प्रधान मन्त्री तक सिर झुकाते थे। हमारे सम्मुख भारत के प्राचीन गुरुओं का उदाहरण है जिनके सामने नत-मस्तक होने में बड़े-बड़े सम्राट् भी गौरव और सौभाग्य का अनुभव करते थे। इन आदर्शों को सामने रखकर यदि हम शिक्षक आत्मोन्नति की भावना से प्रेरित हों तो बहुत कुछ हो जायेगा। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए, हमें कठिनाइयों से लड़ना पड़ेगा, कठिन से कठिन कार्य करना पड़ेगा, ताकि हम शिक्षा-व्यवसाय से सम्बोधित सारे दोषों को दूर कर सकें।

अनुशासन व शिक्षा

अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमें संगठन की आवश्यकता है। संगठन से हमारा अभिप्राय सरकार के विरुद्ध आन्दोलन करना अथवा सरकार की अवहेलना करना नहीं है, बल्कि स्वयं अपने को इस प्रकार अनुशासित करना है कि अपने कर्तव्यों का समुचित पालन करते हुए हम अपने अधिकारों को जता सकें तथा अपनी आवश्यकताओं की ओर यथेष्ट ध्यानाकर्षण कर सकें। इसके लिये हमें उपयुक्त संस्था स्थापित करनी होगी जिसका ध्येयम शिक्षण-व्यवसाय में सुधार लाना होगा। इसके नियम ऐसे होंगे जो इस संस्था के मान्य होने में किसी प्रकार भी बाधक नहीं होंगे। मेरे विचार से शिक्षकों की इस संगठित संस्था में सरल व्यवहार व चरित्र आदि के निश्चित नियम होने चाहियें, तथा इन नियमों को लागू करने के लिए प्रान्तीय समिति आदि भी नियुक्त होनी चाहिए। समाचार पत्र व व्यवसाय-सम्बन्धी ऐसी संगठित संस्थाओं का सरकारी विभाग में भी यथार्थ महत्व है। क्या कारण है कि शिक्षकों की संस्था भी उन्हीं के समान प्रतिष्ठित नहीं हो सकती? मेरा विचार है कि यदि हम वास्तव में उसको उपयोगी बनाएँ तो निश्चय ही सरकार को शिक्षा-सम्बन्धी प्रत्येक समस्या के सुलझाने में हमारे सहयोग की आवश्यकता प्रतीत पड़ेगी।

कार्यक्रम

इस कार्य की सूची बनाना तो अखिल भारतीय [illegible] का कर्तव्य है, किन्तु मेरे विचार से निम्नलिखित कुछ [illegible] शीघ्र ही ध्यान दिया जाना चाहिये :

१. ट्यूशन—मैं ट्यूशन का विरोधी नहीं हूँ, किन्तु [illegible] के घर पर जाकर पढ़ाना अथवा तुच्छ शुल्क पर ही ट्यूशन [illegible] के विरोध में मतदान करता हूँ। कभी-कभी निश्चितता [illegible] शिक्षक किसी छात्र को किसी विशेष परीक्षा के लिये तैयार करने पर उद्यत हो जाते है। मैं जानता हूँ कि इन्हें अपने तुच्छ वेतन के कारण धन की आवश्यकता होती है, फिर भी, अपने को जनता की तथा शिष्यों की दृष्टि में गिराना शोभा नहीं देता।

धन के लोभ में फँस कर बहुत से शिक्षक ट्यूशनों में इतने मग्न रहते है कि वे अपने विद्यालय के कार्य को भी भूल जाते हैं। श्रद्धा व विश्वास का सुयोग्य पात्र बनने के लिये अध्यापक को अपने कर्तव्य का भली भाँति ध्यान रखना चाहिए। इस सम्बन्ध में प्रत्येक शिक्षक के लिए ट्यूशनों की निश्चित संख्या व निश्चित समय होना चाहिए व शिष्यों के घर जाकर अथवा परीक्षा के कुछ ही पहले ट्यूशन करने पर प्रतिबंध लगा देना चाहिए। इन नियमों का उल्लंघन करने पर शिक्षक को उपयुक्त दंड मिलना चाहिये।

२. प्रकाशन-कार्य—[illegible] अध्यापक पुस्तकें आदि लिखते हैं। यह प्रत्येक शिक्षक के लिए मनोरंजन का साधन होना चाहिए। किन्तु हमारे देश में इस कार्य की जो व्यापारात्मक अवस्था है वह एक दम दूर हो जानी चाहिए। मित्रों व कुंजियों आदि से शिक्षक को थोड़ी बहुत आय अवश्य होती है परन्तु [illegible] [illegible] [illegible] करते है। [illegible]

अपने नाम पर नगण्य से नगण्य लेखक के लेख आदि भी प्रकाशित किए जाने पर राजी हो जाते हैं। इसका परिणाम यह है कि आज प्रकाशक यही समझते हैं कि प्रत्येक शिक्षक अपना 'नाम बेचने' को तैयार है और चूँकि वे अपने काम में कृतकार्य होते जाते हैं उनकी ऐसी मनोवृत्ति दृढ़ होती जाती है। प्रकाशकों की इस दूषित मनोवृत्ति को दूर करने के प्रयत्न नहीं हुए हैं बल्कि कभी-कभी ऐसे-ऐसे कार्य कर दिये जाते हैं जिनसे उस मनोवृत्ति को बल मिलता है। यथा—कोई शिक्षक अपनी लिखी परन्तु किसी प्रकाशक द्वारा प्रकाशित पुस्तक को येन-केन-प्रकारेण पाठ्य क्रम में स्थान दिलाकर उसकी बिक्री बढ़वा देता है, जिसके कारण बात प्रकट होने पर उसे अपमान का भाजन होना पड़ता है।

शिक्षकों व प्रकाशकों का पारस्परिक सम्बन्ध घनिष्ठ होना चाहिए। चुने हुए कुछ प्रकाशकों की सूची रहनी चाहिए। ग्रंथकार को निश्चित शुल्क मिलना चाहिए। तथा उसका सर्वाधिकार सुरक्षित रहना चाहिए।

प्रकाशन कार्य की देखभाल व संचालन के लिए शिक्षकों का एक सहयोग संघ होना चाहिए। इस प्रकार शिक्षक अपने परिश्रम के सम्यक् लाभ उठाने में समर्थ होंगे और साथ ही पुस्तकों व लेखों आदि को अधिक उपयोगी बना सकेंगे। इस दिशा में लखनऊ के 'टीचर्स को-आपरेटिव जेनरल एण्ड पब्लिशर्स लिमिटेड' का कार्य स्तुत्य है। इस संस्था का संचालन शिक्षक स्वयं ही करते हैं। यहाँ से शिक्षकों के लिए लाभकारी पुस्तकें व पत्र आदि प्रकाशित किए जाते हैं। अब उन्होंने अपना निजी प्रेस भी खोल रखा है। ऐसी संस्थाएँ सभी प्रान्तों में होनी चाहिएँ।

सहायक पुस्तकें

आज सारा बाजार सस्ती सहायक पुस्तकों व नोट्स से ठसाठस भरा हुआ है। फलस्वरूप हमारे विद्यार्थी कक्षा के कार्य व अध्यापक की ओर

विशेष ध्यान नहीं देते, क्योंकि वे समझते हैं कि परीक्षा से कुछ काल पहले सहायक पुस्तकों आदि में से कुछ महत्व पूर्ण प्रश्नों के उत्तर रट लेने पर ही वे परीक्षा में उत्तीर्ण हो जायेंगे। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या इस प्रकार की क्रिया शिक्षा के उद्देश्य की पूर्ति किसी भी अंश में करती है ? जो शिक्षक ऐसी पुस्तकें लिखते हैं वे शिक्षा-व्यवसाय के घोर शत्रु हैं। क्या एक तुच्छ पुस्तक शिक्षकों के स्थान की पूर्ति कर सकती है ? यदि जनता को विश्वास हो जाय कि वह कर सकती है तो हम उनसे किसी प्रकार के मान-आदर की आशा नहीं रख सकते।

उन्नत शिक्षा-कार्य

इन सस्ती पुस्तकों व नोट्स आदि की प्रत्येक शिक्षालय में होली जला देनी चाहिए (ऐसी पुस्तकें हस्तगत हो तब तो ! छात्र तो उन्हें स्कूल में कदाचित् ही लाते हैं, उनका अधिकतर व्यवहार घर पर ही करते हैं—स०)। पुस्तक की अपेक्षा शिक्षा के महत्व को अधिक मान मिलना चाहिए। मेरा विचार है कि कानून द्वारा ऐसे साहित्य के प्रकाशन व विक्रय पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय।

शिक्षकों का उत्तरदायित्व

ऊपर जो कुछ कहा गया है वह बिलकुल एकांगी आलोचना के रूप में कोरा सिद्धान्त-प्रतिपादन समझा जायगा यदि दो एक शब्द शिक्षकों के उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में भी न कहे जायें। क्योंकि यद्यपि एक ओर यह सत्य है कि एक योग्य शिक्षक दूसरे व्यक्ति के हृदय में अपने लिए श्रद्धा की भावना जाग्रत करने में समर्थ होता है तो दूसरी ओर यह भी सत्य है कि बहुसंख्यक अध्यापक प्रशिक्षण केन्द्रों में सीखे हुए साधनों का पाठशालाओं में कम उपयोग करते हैं, क्योंकि वैसा करने में विशेष श्रम की आवश्यकता होती है। पूर्ववत् प्रशिक्षण-काल के पहले जैसा ही,

कुछ विद्यार्थी की डिग्रियों आदि से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। इस विषय में अभी तक कोई रिसर्च भी नहीं की गई है। हमारे पास कोई ऐसा सूत्र नहीं है जिसके द्वारा हम इस समस्या को सुलझा सकें। अभी तक इस विषय पर कि—अध्यापक के विशेष गुण क्या होने चाहिएँ मतभेद है। अस्तु, हमें अपने तरीके स्वयं बना कर अध्यापकों का चुनाव करना पड़ता है। अध्यापकों को चुनने के तरीके बना कर उनके परिणाम देखने चाहियें तब ही किसी निश्चय पर पहुँच सकेंगे। कमीशन ने इस सम्बन्ध में जो सुझाव पेश किये हैं वे अस्पष्ट से हैं, और अधिक लाभदायक भी नहीं प्रतीत होते। आशा है कि सैकेण्डरी-शिक्षा-प्रसार के निमित्त अध्ययन करने के लिए जो विशेषज्ञ नियुक्त किए गये हैं वे इस सम्बन्ध में कुछ अच्छे सुझाव देंगे। किसी अध्यापक की अध्यापन-योग्यता की जाँच करने का मेरे विचार में सर्वोत्तम उपाय यह है कि पढ़ाते समय उसका निरीक्षण किया जाय और बाद में मत स्थिर किया जाय। अध्यापकों को चुनते समय, मेरे विचार में निम्नलिखित बातों का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए —

१ माता-पिता की इच्छा (२० प्रतिशत भाग)
२ विद्यार्थी का निजी झुकाव (४० प्रतिशत भाग)
३. स्कूल के मुख्य अध्यापक तथा उनके अध्यापकों के विचार (२० प्रतिशत भाग)
४. (यदि हो सके तो) बुद्धि तथा व्यक्तित्व परीक्षण के परिणाम (२० प्रतिशत भाग)

इस आधार पर विद्यार्थी का निर्वाचन करके उसे कुछ पढ़ाने का अवसर देना चाहिये तथा उसकी गतिविधि का अच्छी तरह निरीक्षण करना चाहिये। इसके बाद जो विद्यार्थी चुने जायें उनमें से अंतिम चुनाव में जिन विद्यार्थियों के स्कूल का जीवन अच्छा रहा हो उन्हें माध्यमिक स्कूलों में अध्यापकों का काम करने के लिए तैयार करने के निमित्त

डिग्री ट्रेनिंग कालेज की अनुमति दे देनी चाहिए। शेष जूनियर ट्रेनिंग संस्थाओं में जा सकते हैं। संस्थाओं में भी ट्रेनिंग की अवधि दो वर्ष की अवश्य होनी चाहिए। कमीशन ने भी इसका समर्थन किया है। कुछ राज्यों में तो ये कोर्स दो वर्ष के होते ही हैं।

ट्रेनिंग कालेजों के कोर्स के लिए नौ महीने का समय बहुत कम है। इतने से समय में विद्यार्थी वह सब कुछ नहीं सीख पाते जो उन्हें सीखना चाहिए और न ही उन्हें वह सब कुछ सिखाया ही जा सकता है। जैसा कि कमीशन ने भी कहा है, अभी कुछ समय तक ट्रेनिंग की अवधि बढ़ा देना सम्भव नहीं है; इसलिए मेरा विचार है कि यदि माध्यमिक-शाला शिक्षक की ट्रेनिंग डिग्री कक्षाओं के प्रथम वर्ष से ही प्रारम्भ कर दी जाय तो बी० टी० अथवा बी० एड० की अवधि बढ़ाने की आवश्यकता ही न रहे। इस व्यवस्था से एक लाभ यह भी होगा कि जो विद्यार्थी अध्यापक बनना चाहेंगे वे बी० ए० में फिलोसोफी और इकानोमिक्स जैसे व्यर्थ विषय जो स्कूलों में नहीं पढ़ाये जाते, नहीं लेंगे। इसके विपरीत ऐसे विषय लेंगे जिनसे वे अच्छे अध्यापक बन सकते हैं। ऐसे अध्यापकों की आजकल बहुत आवश्यकता है।

ट्रेनिंग संस्थाओं का पाठ्य-क्रम क्या हो ? यह प्रश्न संस्थाओं के ऊपर छोड़ देना चाहिए। प्रत्येक प्रशिक्षण संस्था की अपनी विशेषता होनी चाहिए। आज कल सैद्धांतिक पक्ष पर ज्यादा बल दिया जाता है, मेरा विचार है इसके स्थान पर व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल देना चाहिए।

इस सम्बन्ध में राधाकृष्णन कमीशन के सुझावों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। सैकेण्डरी-एजूकेशन कमीशन ने भी इन सुझावों का समर्थन किया है।

ट्रेनिंग में सैद्धांतिक प्रशिक्षण के उद्देश्य यह है कि विद्यार्थी :—

१. शिक्षा के विस्तृत अर्थों, व्यक्ति तथा समाज की आवश्यकताओं

से उसके सम्बन्ध इत्यादि के विषय में जो सिद्धांत हैं उनका परिचय प्राप्त कर सकें।

२ पढ़ाने के उद्देश्य और विधियों का परिचय प्राप्त करें।

३ तथा शिक्षा-विकास के क्रम से परिचित हों। सैद्धांतिक भाग में व्यर्थ की बहुत सी बातें नहीं होनी चाहियें, बरन् उनकी जानकारी प्राप्त करने के लिए विद्यार्थियों को पुस्तकालय में पढ़ने, वाद-विवाद में भाग लेने आदि का अवसर देना चाहिए। उन्हें ऐसे अवसर देने चाहियें जिनसे उनकी कल्पना-शक्ति, विचार व तर्क-शक्ति पुष्ट हों। प्रत्येक ट्रेनिंग इन्स्टीट्यूट में ट्यूटोरियल-सिस्टम होना चाहिए अर्थात् लगभग १० विद्यार्थी एक अध्यापक के सुपुर्द होने चाहिएँ। प्रत्येक समूह के कार्यक्रम में वाद विवाद, तर्क, निबन्ध-पाठन आदि को स्थान मिलना चाहिये। सभा के पश्चात् वाद-विवाद के लिए भी उन्हें समय देना चाहिए। शिक्षक को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि क्लास के वाद-विवाद में केवल दो-चार विद्यार्थी ही प्रमुख न रहें बरन् सब को अपने विचार प्रकट करने का अवसर मिले। आजकल ट्रेनिंग कालेजों में जो भाषण-पद्धति प्रचलित है उसका प्रयोग बहुत कम होना चाहिए। विशेष विषयों पर भाषण होने चाहिएँ, वे भी ऐसे हों जिनमें विद्यार्थी और अध्यापक दोनों की योग्यता बढ़े।

अध्यापक-प्रशिक्षण के व्यवहारिक पक्ष के सम्बन्ध में प्रचलित रीति यह है कि प्रत्येक छात्र-अध्यापक को प्रतिदिन दो या तीन पीरीयड के हिसाब से लगभग एक महीने पढ़ाना पड़ता है। वे जो पाठ देते हैं उनका सूक्ष्म रीति से निरीक्षण और आलोचना की जाती है। यह सही है कि विधिपूर्वक इस प्रकार पढ़ाना प्रशिक्षण का मुख्य अंग है परन्तु यह भी सत्य है कि केवल यही महत्वपूर्ण नहीं है। माडल-प्रेक्टीसिंग-स्कूल-टीचर-ट्रेनिंग-कालिज का एक महत्वपूर्ण भाग है; सब इस बात को मानते हैं। कमीशन ने भी प्रत्येक ट्रेनिंग कालिज के साथ एक प्रेक्टिसिंग स्कूल

होने पर बल दिया है, परन्तु, मेरा विचार है कि यह स्कूल केवल एक कृत्रिम वातावरण उपस्थित करता है। वहाँ छात्र अध्यापकों के सामने वे समस्याएँ नहीं आती जो आगे जाकर उन स्कूलों में उनके सामने आती हैं जिनमें वे पढ़ाते हैं। यदि आदर्श यथार्थता से बहुत दूर हो तो उसकी उपयोगिता नहीं रहती। मेरा सुझाव तो यह है कि प्रत्येक छात्र किसी एक स्कूल में उस स्कूल का एक सदस्य बनकर रहे, उसे अभ्यागत न समझा जाय, उसे कोई ऐसा व्यक्ति न समझा जाय जिसके साथ स्कूल के अन्य अध्यापक तथा प्रबन्धक कोई विशेष व्यवहार करें या उसकी सुविधा आदि का विशेष ध्यान रखें। इसके विपरीत उसे अन्य अध्यापकों की भाँति स्कूल में रहना चाहिए, उनके साथ सब काम करना चाहिए, उनकी भाँति ही स्कूल के प्रति अपना उत्तरदायित्व स्वयं सम्हालना चाहिए।

छात्र-अध्यापकों को कुछ कला व उद्योग तथा श्रवण-दृष्टि-सहायक साधन बनाने तथा सम्हालने की शिक्षा भी अवश्य मिलनी चाहिए। कुछ संस्थाओं में इस शिक्षा को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया जाता है, यह भी ठीक नहीं है। हमें उन्हें ड्राइंग के या आर्ट या क्राफ्ट के शिक्षक नहीं बनाना है। एक और बात, मेरे विचार से महत्त्वपूर्ण है कि प्रत्येक अध्यापक को महत्त्वपूर्ण शिक्षण-पद्धतियों का व्यावहारिक ज्ञान अवश्य होना चाहिए, उदाहरण के लिए मोन्टेसोरी एपोरेटस तथा फ्राबेल के गिफ्टों का उपयोग करना प्रत्येक अध्यापक को आना चाहिए। इन बातों से उनका परिचय कराने के लिए एक उत्तम तरीका यह होगा कि उन्हें उन स्कूलों में ले जाया जाय जो इन विभिन्न पद्धतियों पर चलते हैं और उन्हें साधनों को उपयोग करने का अवसर दिया जाय। खेल, स्काउटिंग, रेड-क्रास इत्यादि की शिक्षा लेना भी उनके लिए अनिवार्य है। परन्तु इन सब चीजों पर अकारण और आवश्यकता से अधिक बल देना अवांछनीय है। हमारा उद्देश्य केवल यही है कि छात्र-अध्यापकों

को यथासम्भव विस्तृत ज्ञान प्रदान किया जा सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए छात्रालययुक्त ट्रेनिंग-कालिज अधिक उपयोगी सिद्ध होंगे।

व्यवसाय-प्रशिक्षण संस्थाओं में लिखित-परीक्षा का महत्व बहुत कम हो जाता है। इन संस्थाओं का उद्देश्य तो केवल यह होता है कि इनके विद्यार्थी अधिक से अधिक व्यवहार-कुशल तथा अनुभवी बनें; यह नहीं कि वे केवल तथ्य आदि ही रट लें। यद्यपि मेरी बात कुछ क्रान्तिकारी सी लगे, परन्तु, फिर भी मेरा यही कहना है कि बी० टी० या बी० एड० में अन्तिम वार्षिक लिखित परीक्षा न ली जाय। इसके स्थान पर प्रत्येक छात्राध्यापक के वार्षिक कार्य की सूक्ष्म जाँच की जाय। जो विद्यार्थी वर्ष भर नायग्रेरी का प्रयोग करता है, जो सन्तोषजनक पाठ देता है, जिसमें कुछ उन्नति दृष्टिगोचर होती है, जो महत्वपूर्ण साधनों का उचित प्रयोग करना जानता है, जिनके निबन्धों, वाद-विवाद आदि से यह प्रतीत हो कि वह विषय को भली भांति समझता है, उस विद्यार्थी की ट्रेनिंग वस्तुतः ठीक मान लेनी चाहिए। यूनिवर्सिटी-परीक्षा का परिणाम उनके लिए कुछ महत्व नहीं रखता। मुझे स्मरण है कि मुझे एम०बी० की डिग्री के लिए विद्यार्थियों को मरीजों का इलाज करना पड़ता था; उनके लिए कोई लिखित परीक्षा की व्यवस्था नहीं थी। यही अध्यापकों के विषय में भी है यदि वे "अपने मरीजों" का धैर्य और कुशलता से सामना कर सकते हैं तो उनकी अध्यापन योग्यता में कोई सन्देह नहीं है। इन सब बातों के लिए उनके सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक कार्यों का ब्यौरा रखना अनिवार्य है।

एक अध्यापक हमेशा विद्यार्थी रहता है। शिक्षा केवल विज्ञान है। अपने कर्तव्य को सफलतापूर्वक निभाने के लिए अध्यापक को नवीन ज्ञान प्राप्त करते रहने की जरूरत है। अतः स्कूल के प्रबन्धकों को उनके लिए उत्तम व नवीन प्रकाशन तथा शिक्षा-सम्बन्धी पत्र-पत्रिकाओं की व्यवस्था अवश्य करनी चाहिए। सरकार भी रिफ्रेशर्स-कोर्स; सेमिनार

सेमिनार, टूर, कान्फ्रेंस आदि की व्यवस्था करके उनके ज्ञान को नवीन रखने में उनकी सहायता कर सकते हैं। कान्फ्रेंसों आदि में देश के विभिन्न भागों के अध्यापक भाग लेंगे और परस्पर वाद-विवाद और विचार-विनिमय करेंगे। स्कूल के जीवन में भी कुछ दिन दूर अन्य लोगों में रहने का अवसर उन्हें मिलेगा। इस प्रकार के अवसर प्राप्त होने से उनका सामाजिक और नैतिक विकास होगा। मेरा सुझाव है कि प्रत्येक माध्यमिक-शाला-शिक्षक को ऐसे अवसर प्राप्त होते रहने चाहिएं। ऐसा एक अवसर उनके लिए तीन वर्ष तक पर्याप्त होगा।

एक अध्यापक द्वारा संचालित स्कूल

पढ़े लिखों में बढ़ती हुई बेकारी की समस्या को हल करने के लिए एक अध्यापक द्वारा संचालित प्राथमिक स्कूलों की योजना सरकार ने बनाई है और इसी निश्चय के अनुसार समस्त देश में लगभग ४०,००० ऐसे स्कूल खोलने का प्रयत्न किया जायगा। यही कारण है कि सहसा इस प्रकार के स्कूलों की चर्चा इतनी अधिक होने लगी है। इन स्कूलों में मैट्रिक्यूलेट्स, इण्टरमीजिएट्स तथा ग्रेजुएट्स सबको शिक्षक लगाया जा सकता है। स्कूल का कार्यभार सौंपने से पूर्व उन लोगों को शिक्षण विधियों की शिक्षा भी दी जायगी।

कुछ लोगों का विचार है कि परिस्थिति को कुछ सुधारने के लिए ही इस प्रकार के स्कूल खोलने की योजना बनाई गई है, इसका कोई विशेष शैक्षणिक महत्त्व नहीं है। कुछ लोग इस आन्दोलन को चुनावों के समय मत आकृष्ट करने का साधन भी समझते हैं। परन्तु लोगों का यह विचार उचित नहीं है। प्राचीन काल से ही एक शिक्षक द्वारा संचालित स्कूलों का महत्त्व रहा है, विशेषकर गांवों के बच्चों को शिक्षा प्रदान करने के लिए इस प्रकार के स्कूल सदा से काम करते रहे हैं। केवल भारत में नहीं, अपितु अमरीका, स्वीडन, आस्ट्रेलिया तथा यू० के० सदृश उन्नत देशों में भी इस प्रकार के स्कूलों का सदा से अस्तित्व रहा है।

भारत में एक अध्यापक द्वारा संचालित स्कूल प्राचीन काल में अनुपम और महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। डा० ए० एस० अल्टेकर ने अपनी पुस्तक "एजूकेशन इन ऐंशिन्ट इंडिया" में तक्षशिला, बनारस तथा अन्य

स्थानों में इस प्रकार के स्कूलों का उल्लेख किया गया है। मुसलमानों के समय में ऐसे स्कूलों को "मकतब" के नाम से पुकारा जाता था; जहाँ कुछ उन्नत विद्यार्थियों अथवा 'मनीटरों' की सहायता से अध्यापक विद्यार्थियों को पढ़ने लिखने आदि की शिक्षा देते थे। अंग्रेजी राज्य स्थापित होने पर भी कुछ ऐसे स्कूल वर्तमान थे। विलियम एडम तथा एल्फ़िंस्टन की रिपोर्ट में बिहार, बम्बई, मद्रास इत्यादि स्थानों पर इस प्रकार के स्कूल होने का प्रमाण मिलता है। अंग्रेजों ने अपने राजत्वकाल में ऐसे स्कूलों को नष्ट करने की बहुत चेष्टा की परन्तु वे इसमें सफल नहीं हुए और आज भी—विशेषकर ग्रामों में—इस प्रकार के सहस्त्रों स्कूलों का अस्तित्व अवशेष है। अब स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् इस प्रकार के स्कूलों को महत्वपूर्ण समझकर भारत सरकार ने उन्हें प्रोत्साहन देने तथा इसी तरह के और स्कूल खोलने का निश्चय किया है। भारत के छोटे-छोटे गाँवों की आर्थिक परिस्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए यही कहना पड़ता है कि एक अध्यापक द्वारा संचालित स्कूल वहाँ के लिए उत्तम सिद्ध होंगे।

पर्यवेक्षण की आवश्यकता

सर्व प्रथम इस बात की आवश्यकता है कि ऐसे सारे स्कूलों का पर्यवेक्षण किया जाए तथा उनके सामने आने वाली कठिनाइयों, उनकी आवश्यकताओं तथा उनके लिये आवश्यक साधनों को नोट कर लिया जाए। ऐसे स्कूलों में पढ़ाई लिखाई सम्बन्धी तथा शासन सम्बन्धी दोनों ही प्रकार की अनेक समस्याएँ सामने आती हैं। जब तक इनको सुलझाया नहीं जायगा तब तक सच्चे अर्थों में शिक्षा का विकास नहीं हो पायगा। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि एक अध्यापक द्वारा संचालित स्कूल ही यथार्थ में भारतीय ग्रामों में शिक्षा विकास की कुंजी है। हमारे देश की समस्त जन संख्या में से ७० प्रतिशत लोग गाँवों में रहते हैं। इस तथ्य को देखते हुए इनका महत्व एवं मूल्य और भी बढ़ जाता है।

इन स्कूलों का पर्यवेक्षण करने के लिए यह अच्छा होगा कि पंजाब में हाल में ही जो कमेटी स्कूल की पुनर्व्यवस्था की समस्या के सम्बन्ध में विचार करने को नियुक्त की गई है वही कमेटी इस प्रकार के स्कूलों की समस्या पर भी विचार करे अथवा इस कार्य के लिए एक पृथक कमेटी नियुक्त की जाय, और शीघ्र ही उस कमेटी के सुझाव इत्यादि उपलब्ध हों। जिससे उन पर विचार किया जा सके तथा उन्हें लागू करने के प्रयत्न भी जल्दी ही किये जा सकें। पंजाब राज्य की सामूहिक विकास योजना के अन्तर्गत ही यदि इस योजना को भी सम्मिलित कर लिया जाय तो भी यह कार्य ठीक प्रकार से हो सकता है। जिन नार्मल स्कूलों में प्राथमिक-शिक्षालयों में पढ़ाने वाले अध्यापकों को ट्रेनिंग दी जाती है उन्हें एक अध्यापक द्वारा सचालित स्कूलों में पढ़ाने वाले अध्यापकों की ओर भी विशेष ध्यान देना चाहिए, क्योंकि इन स्कूलों की समस्याएँ उन स्कूलों की समस्याओं से भिन्न होगी जिनमें अधिक अध्यापक पढ़ाते है। अतः इन अध्यापकों की ट्रेनिंग में उन सबका ध्यान रखना अनिवार्य है।

पढ़ाई लिखाई के सम्बन्ध मे सर्व प्रमुख समस्या यह है कि एक स्कूल में कितनी कक्षाएँ हों, विद्यार्थियों की संख्या कितनी हो तथा विषय क्या-क्या हों। स्पष्ट है कि हम एक अध्यापक से यह आशा नही कर सकते कि वह एक से अधिक कक्षाओं को सम्हाल सके, अथवा बहुत अधिक संख्या में विद्यार्थियों को सम्हाल सके या अधिक विषय पढ़ा सके। अतएव इन स्कूलों मे इतने ही विद्यार्थी होने चाहियें जितने कि एक अध्यापक आसानी से सम्हाल सकता है। यदि किसी स्थान पर एक स्कूल से काम न चले तो वहाँ और ऐसे ही स्कूल खोले जा सकते हैं। इस प्रकार के स्कूलों का महत्व इसमें ही है कि विद्यार्थियों एवं शिक्षकों के बीच गहरा सम्बन्ध रहे। यदि विद्यार्थी बहुत अधिक संख्या में होंगे तो यह उद्देश्य पूर्ण नही हो सकता। अध्यापक के लिए केवल पढ़ाना और विद्यार्थियों के लिए केवल पढ़ना ही पर्याप्त नहीं है वरन् चाहिए

तो यह है कि अध्यापक अच्छे ढंग से पढ़ाए और विद्यार्थी अधिकाधिक शिक्षा ग्रहण करें।

पाँच कक्षाएँ

एक अध्यापक द्वारा संचालित स्कूल में निम्न पाँच कक्षाओं की व्यवस्था सरलता से की जा सकती है—(१) शिशु शिक्षा (२) प्रथम (३) दूसरी (४) तीसरी और (५) चौथी : स्पष्ट है कि एक ही अध्यापक इन सारी कक्षाओं को एक ही समय नहीं पढ़ा सकता, और न ही स्कूल का समय साढ़े पाँच घण्टों से अधिक हो सकता है। इन साढ़े पाँच घण्टों में बच्चे या अध्यापक कार्य में ही संलग्न रहें या बच्चे चुपचाप बैठे रहें यह भी सम्भव नहीं है। इन सब कारणों से हमारे सामने एक जटिल समस्या आ खड़ी होती है। अस्तु, शिक्षा-विभाग को अध्यापक को हर तरह सहयोग व सहायता देनी चाहिए जिससे वह इन समस्याओं का सामना सफलता पूर्वक कर सके।

इस सम्बन्ध में कुछ सुझाव निम्नलिखित हैं:—

१. शिशुओं को केवल तीन घण्टे के लिए स्कूल में रखा जाय। उसमें भी आधा समय खेलों, मनोविनोद तथा अन्य सांस्कृतिक क्रियाओं के लिए रखा जाय।

२. पाठ्यक्रम में पाठ्य-विषयों की संख्या कम कर दी जाय। यह काम भी इस प्रकार किया जाय कि आवश्यक विषय रह जाएँ और अनावश्यक हटा दिये जाएँ। कुछ विषयों को पृथक्-पृथक् न रख कर एक ही वर्ग के होने के कारण एक ही विषय के रूप में भी रखा जा सकता है।

३. पाठ्यक्रम को दो इकाइयों में इस प्रकार बाँट दिया जाए कि पहली व दूसरी तथा तीसरी व चौथी कक्षाएँ इकट्ठी रह सकें।

४. समय-विभाग इस प्रकार बनाया जाए कि एक पीरीयड सीधे-साधे ढंग से बैठ कर पढ़ने का हो और दूसरों में सक्रिय कामो, ड्रिल; प्रायोगिक काम जैसे नक्शे बनाना, लिखना, सवाल निकालना आदि काम हों। इसके अर्थ यह हुए कि पाठ्यक्रम को नवीन सिद्धांतो के आधार पर बनाया जाए और उसमें क्रियाओं तथा प्रायोगिक कार्य को अधिक स्थान दिया जाए। यदि यह क्रियाएँ आदि रोचक होंगी तो अधिक निरीक्षण की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

५. समय विभागों में तीनों क्लासों के लिए मध्यान्तर अलग-अलग समय हों।

व्यावहारिक ज्ञान

इन सब बातों का अर्थ यह हुआ कि इन स्कूलों में काम करने वाले अध्यापक अधिक योग्य व कुशल हों, और उन्हें विशेष प्रशिक्षण दिया जाय। उन्हें डाल्टन-योजना, प्रोजेक्ट-विधि, प्ले-वे इत्यादि समस्त वैयक्तिक एवं सामूहिक शिक्षण-विधियों का व्यवहारिक ज्ञान होना चाहिए। इन स्कूलों में वाद-विवाद; सेमिनार, असाइन्मेंट्स आदि का भी महत्वपूर्ण स्थान है, अस्तु, इन अध्यापकों को इन सब कार्यों के करने में भी दक्षता प्राप्त करनी चाहिए। हमारे नार्मल स्कूलों में तथा अन्य ट्रेनिंग कालेजों की शिक्षा इन अध्यापकों के लिए उपयोगी नहीं होगी। यह उचित होगा कि प्रत्येक प्रशिक्षण संस्था के साथ ही एक सिंगल-टीचर माडल स्कूल भी हो, तथा इनमें पढ़ाने की विधियों के लिए एक पृथक पेपर भी हो, जो अनिवार्य न हो। जो अध्यापक ऐसे स्कूलों में पढ़ाना चाहें वे इस विषय का विशेष रूप से अध्ययन करें।

इन समस्याओं के अतिरिक्त व्यवस्था सम्बन्धी भी कुछ समस्याएं सामने आती हैं। ऐसे अवसर तो आते ही रहते हैं जबकि अध्यापक बीमार हो जाए अथवा अन्य किसी कारण से छुट्टी ले ले। ऐसे अवसर

पर जितने दिन अध्यापक न आए स्कूल की छुट्टी नहीं होनी चाहिए। इन स्कूलों के उपयुक्त निरीक्षण की समस्या भी सुलझानी चाहिए। प्रचलित व्यवस्था दो कारणों से सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती। (१) इन स्कूलों को अधिक निरीक्षण, व निर्देशन की आवश्यकता है। (२) सुपरवाइजर को भी इन स्कूलों से सम्बन्धित विधियों का तथा इनकी समस्याओं का पूरा ज्ञान होना चाहिए।

शिक्षा की विषय-सामग्री

"शिक्षण का विषय क्या होना चाहिए ?" शिक्षण प्रक्रिया का यह एक महत्वपूर्ण विषय है। जब तक हम यह निश्चय नहीं कर लेते कि हमें क्या पढ़ाना है तब तक उसे पढ़ाने की विधियों आदि के सम्बन्ध में वाद-विवाद करना हास्यास्पद प्रतीत होता है। शिक्षा का पाठ्य-क्रम निश्चित कर लेने पर हमारे सम्मुख एक निश्चित ध्येय होता है और उसी की पूर्ति के लिए हम अपने समस्त शैक्षणिक प्रयत्नों को सुव्यवस्थित एवं शृंखलाबद्ध रूप में रख सकते हैं। अस्तु, पाठ्य-क्रम को निर्धारित कर लेना सर्वप्रथम आवश्यक है।

'पाठ्यक्रम' का उद्देश्य व्यक्ति को ऐसी शिक्षा देना है कि जिसके द्वारा वह स्वस्थ व्यक्ति तथा समाज का उपयोगी सदस्य बनने में समर्थ हो सके। शिक्षा के उद्देश्यों में परिवर्तन होने के साथ ही साथ पाठ्यक्रम में भी परिवर्तन होना आवश्यक है, इसलिए पाठ्यक्रम परिवर्तनशील होना चाहिए। हमारे पाठ्यक्रम के उद्देश्य निश्चित एवं दृढ़ नहीं होने चाहिएँ, बल्कि उनमें आवश्यकतानुकूल परिवर्तन भी होते रहने चाहिएँ।

जिन विद्यार्थियों के लिए पाठ्यक्रम बनाया जाता है उनकी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति उससे होनी चाहिए। यह पाठ्यक्रम बनाने का मूल-सिद्धांत है। इसके अन्तर्गत बालक की शारीरिक, सामाजिक मानसिक एवं आध्यात्मिक, समस्त प्रकार की, आवश्यकताएँ आ जाती हैं। अब हम इनकी एक-एक करके विवेचना करेंगे।

शारीरिक आवश्यकताओं से तात्पर्य है—शरीर की गति पर नियंत्रण स्थापित करना। संसार में सफल जीवन व्यतीत करने के लिए अपने

शरीर के समस्त अवयवों पर नियंत्रण रखना बच्चे के लिए अत्यन्त आवश्यक है। बच्चों की सामाजिक आवश्यकताओं का उद्गम उनकी समूह में रहने की प्रवृत्ति है। समाज में रहने की प्रवृत्ति ही उनके सामाजिक जीवन का मूल है। इसी कारण वे परस्पर सम्बन्ध स्थापित करते हैं। मानव के अन्दर में एक अतृप्ति होती है, एक भूख होती है, उसे तृप्त करने के लिए वह सदा अशान्त रहता है। जब अपनी शारीरिक-शक्तियों एवं अपने संसार पर उसका मानसिक नियन्त्रण हो जाता है, तब वह अपने अर्जित अनुभवों की वास्तविक महत्ता को पूर्णतः समझने लगता है। जब मानव को रचनात्मक-शक्तियों की अभिव्यक्ति का सुअवसर प्राप्त हो जाता है, तभी वह आन्तरिक तृप्ति का अनुभव करता है। यही मनुष्य की मानसिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकताओं का कारण है।

उपर्युक्त सब आवश्यकताएँ प्रत्येक बालक में व्यक्तिगत होती हैं। एक बच्चे की सीखने की शक्ति दूसरे बच्चे की सीखने की शक्ति से भिन्न होती है। अतएव पाठ्यक्रम को समस्त बच्चों की व्यक्तिगत शक्ति के अनुकूल होना चाहिए। इस दृष्टि से देखते हुए पाठ्यक्रम के विषय में कोई दृढ़-धारणा निर्मूल प्रतीत होती है। इसके विपरीत पाठ्यक्रम को गतिशील एवं परिवर्तनशील होना चाहिए। प्रत्येक स्थान, प्रत्येक वातावरण तथा प्रत्येक बालक के लिए एक ही पाठ्यक्रम नहीं हो सकता। उसमें परिवर्तन करने की भी आवश्यकता हो सकती है। इसलिए पाठ्यक्रम का केवल बाह्य ढाँचा ही बना लेना पर्याप्त होगा। अन्दर विभिन्नताओं के अनुकूल पूर्ति करने के लिए पर्याप्त स्थान छोड़ देना चाहिए।

'शिक्षा मनुष्य को जीवन के लिए तैयार करती है।' शिक्षा के इस उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हमारा पाठ्यक्रम ऐसा हो जिसके द्वारा हम बच्चे को प्रौढ़ जीवन के लिए भी तैयार कर सकें। यह ठीक है कि एक बच्चे और एक प्रौढ़ की कुछ

आवश्यकताएँ समान नहीं होती, परन्तु आगे जाकर हमें पाठ्यक्रम में कुछ ऐसे विषय अवश्य रखने होंगे जो प्रौढ़ जीवन के लिए विशेष रूप से लाभदायक हों।

जैसा हम ऊपर कह आए हैं, सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना भी पाठ्यक्रम का लक्ष्य होना चाहिये। स्वतंत्र भारत के आदर्शों की पूर्ति के लिए पाठ्यक्रम बनाते समय भी उन आदर्शों का ध्यान रखना चाहिये। अस्तु, पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिए जिसके द्वारा भारतीय जनता जनतंत्र के आदर्शों को जीवित एवं व्यवहारिक रूप दे सके और इस प्रकार अपने जीवन को उन्नत एवं आदर्श बनाने से सफल हो सके। समष्टि एवं व्यष्टि दोनों की उन्नति करना पाठ्यक्रम का उद्देश्य होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त, पाठ्यक्रम बनाते समय प्रत्येक बच्चे की व्यक्तिगत विशेषताओं को भी यथोचित महत्व देना चाहिये, क्योंकि वे ही वास्तविक शिक्षा के मूल हैं। अन्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि पाठ्यक्रम के द्वारा बालक की सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिये।

अतएव सामान्य व्यक्ति के महत्वपूर्ण अनुभवों को ही पाठ्यक्रम का आधार बनाना चाहिए। इन अनुभवों में बौद्धिक, भावात्मक एवं रागात्मक आदि सब प्रकार के अनुभवों का सुन्दर सम्मिश्रण होना वाञ्छनीय है।

इसके साथ ही उपयुक्त शैक्षणिक वातावरण प्रस्तुत करना भी एक शिक्षक का कर्तव्य है। इसके अर्थ यह हुए कि वातावरण में निम्नांकित विशेषताएँ हों :—

(१) पारस्परिक सम्बन्धों को विकसित किया जाय तथा वे प्रिय और सुखद हों।

(२) विद्यालयों को अधिक सुन्दर बनाया जाय।

(३) सुन्दर और मौखिक प्रसाधन अधिक से अधिक उपलब्ध किये जाएँ।

(४) बालक को स्वतन्त्रता दी जाए।

(५) क्रियात्मक जीवन तथा खेलों को अधिक महत्व दिया जाए।

इन सब बातों को पूरा करने के लिए हमें नीचे लिखी बातों पर अधिक ज़ोर देना चाहिए.—

(१) उच्चरित भाषा पर (मातृ-भाषा पर) अधिक ध्यान दिया जाय।

(२) मौन-पठन एवं अवगत करने की शक्ति पर ध्यान दिया जाय।

(३) व्याकरण की औपचारिक शिक्षा न दी जाय।

(४) गणित के जो नियम बच्चों के दैनिक जीवन से सम्बन्धित न हों उनको अधिक महत्व न दिया जाय। जो चीज़ उनके जीवन से सम्बन्धित हो उसी पर विशेष ज़ोर दिया जाय।

(५) पाठ्यक्रम को समाप्त करने की कोई निश्चित अवधि न रखी जाय।

(६) क्रिया द्वारा ज्ञानार्जन का अवसर दिया जाय।

(७) सम्पूर्ण पाठ्यक्रम को एक इकाई के रूप में लेना चाहिए। सुविधा के लिए उसे भिन्न-भिन्न विषयों में बाँटा जाता है।

पाठ्यक्रम रचना के आधारभूत कतिपय आदर्श हमने ऊपर बताये हैं, परन्तु साथ ही हमें पाठ्यक्रम की वर्तमान परिस्थितियों पर भी तनिक दृष्टिपात कर लेना चाहिए। यह सत्य है। यद्यपि है बहुत कटु कि अभी तक पाठ्यक्रम की ओर हमारे यहाँ तनिक भी ध्यान नहीं दिया गया है। शैक्षणिक तथा मनोवैज्ञानिक तथ्यों की अवहेलना करके, यों ही जैसे तैसे पाठ्यक्रम की रचना कर दी जाती है। पाठ्यक्रम का सबसे बड़ा दोष यह था—और अब भी है कि उसमें अंग्रेजी को बहुत अधिक महत्व दिया जाता है और मातृ-भाषा की लगभग अवहेलना ही की जाती है। यही कारण है कि हमारे विद्यार्थियों की निष्पत्ति इतनी सीमित हो रही है।

पाठ्यक्रम में सर्वत्र पढने, लिखने व अंकों की शिक्षा को बहुत महत्व प्रदान किया गया है। हमारी शिक्षा का हमारे जीवन से कोई सम्बन्ध नही है, शिक्षा केवल सैद्धांतिक है उसमें व्यावहारिकता का चिन्ह भी नही है।

पाठ्यक्रम बच्चे की अवहेलना करता है परन्तु पठन-विषय को बहुत महत्त्व देता है। ज्ञानार्जन को आवश्यकता से अधिक महत्वपूर्ण माना गया है, फलतः व्यक्ति की कल्पना, तर्क, प्रयोग आदि शक्तियों का विकास नही हो पाता। वे केवल इतिहास, भूगोल व विज्ञान के तथ्यों को ही रट लेते हैं।

हमारी वर्तमान शिक्षा का सबसे बड़ा दोष यह है कि उसमें 'परीक्षा' ही शिक्षा का चरम लक्ष्य मानी जाती है। परिणामतः अध्यापक व विद्यार्थी सबकी दृष्टि केवल उसी ओर रहती है। एक सम्पूर्ण राज्य में एक ही पाठ्यक्रम का प्रयोग किया जाता है, उसमें स्थानीय अथवा सामाजिक आवश्यकताओं की ओर कोई ध्यान नही दिया जाता। पाठ्यक्रम की यह दशा निःसन्देह शोचनीय है, ऐसी अवस्था में 'क्रिया द्वारा शिक्षा प्राप्त करना', आदि बातों की चर्चा करना भी व्यर्थ सा प्रतीत होता है।

पाठ्यक्रम के विषय में सर पर्सीनन ने दो महत्वपूर्ण सुझाव रखे हैं। पहिला यह कि पाठ्यक्रम में विषयों के स्थान पर क्रियाओं को रखा जाय और दूसरा यह कि शिक्षा की सर्वोत्कृष्ट पद्धति खेल पद्धति हो।

पाठ्यक्रम की एक और बड़ी समस्या है, वह यह कि आजकल का पाठ्यक्रम बहुत बोझिल है। उसमें जरूरत से ज्यादा विषयों को ठूँस दिया जाता है। स्पष्ट है कि जब विद्यार्थी को एक के बाद दूसरे विषय तक जाने की जल्दी हो तो वह एक विषय को भली भाँति पचाने की परवाह नहीं करता—बर यूँ कहिए कि उसके पास इतना समय ही नहीं

होता। इस दोष को दूर करने के लिए नवीन साधन 'समस्त विषयों में समवाय' स्थापित करना है। बेसिक-शिक्षा-पद्धति 'समवाय' स्थापित करने पर ही जोर देती है। दूसरी विधि यह है कि एक दिन पढ़ाने वाले सारे विषयों का केन्द्र कोई एक वस्तु या विषय बना लिया जाता है। प्रोजेक्ट पद्धति इस प्रकार अनुबन्धन करने की सर्वोत्तम पद्धति है। इसके अनुसार अध्यापक स्वयं ही अनेक प्रोजेक्टों में अपने पाठ्यक्रम को विभाजित कर सकता है।

इस दिशा में एक ही नवीन सुझाव और है वह विषयों के वर्गीकरण को सरल बना देना है अर्थात् उन सारे विषयों को जिनके उद्देश्य समान हों, एक ही विषय के रूप में स्वीकार करना। उदाहरणार्थ इतिहास, भूगोल व नागरिक शास्त्र की शिक्षा को मिलाकर सामाजिक शास्त्र का नाम देना।

ऊँची श्रेणियों में जाकर विद्यार्थी को अपनी रुचि व योग्यता के अनुकूल विषय अथवा विषयों में विशेषता प्राप्त करने का अवसर मिलना चाहिए। इस प्रकार विशेषता प्राप्ति के लिए सेकेण्डरी-स्कूल के अन्तिम दो वर्षों में अवसर देना उपयुक्त होगा।

अब हम प्राथमिक जूनियर व सीनियर सेकेण्डरी स्तर के पाठ्यक्रमों की कुछ समालोचना करेंगे।

प्राथमिक कक्षाओं में ५ से ११ वर्ष की आयु तक के बच्चे होते हैं, इनका शारीरिक, बौद्धिक, सामाजिक व नैतिक विकास करना ही शिक्षा का उद्देश्य है। नवीनतम विचार के अनुसार प्राथमिक श्रेणियों की क्रियाओं को संगीत, भाषा-सम्बन्धी शारीरिक, गणित सम्बन्धी, वैज्ञानिक, कलात्मक एवं नागरिकता—विषयों से सम्बन्धित क्रियाओं में बाँट दिया गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि उनको पूर्ण और बनाने के लिए उनका उपयुक्त सर्वांगीण विकास हो सके। इस अवस्था में ये सब क्रियाएँ सब बच्चों के लिए अनिवार्य हैं। ऐसी कोई चीज नहीं जो एक

बच्चे के लिए उपयुक्त हो और दूसरे के लिए अनुपयुक्त। इसके अतिरिक्त सारा काम खेल ही खेल में हो जाता है इसलिए पढ़ाई और खेल में अंतर प्रतीत नहीं होता।

जूनियर सेकेण्डरी स्तर में ११ से १३ वर्ष की आयु तक के बच्चे होते है। इस अवस्था में इससे पूर्व प्रारम्भ किया हुआ विकास का कार्य उसी प्रकार चलता रहता है, केवल उसके क्षेत्र का विस्तार बढ़ जाता है और धीरे-धीरे सर्वाधिक कार्य प्रवेश पाने लगते हैं, परन्तु फिर भी किसी प्रकार की विशेषज्ञता प्राप्त करने का प्रश्न नहीं उठता।

विशेषता प्राप्ति के लिए सीनियर सेकेण्डरी स्तर अथवा तेरह वर्ष की आयु से अवसर मिलना उपयुक्त है। परन्तु यह विशेषता प्राप्ति भी समाज की आवश्यकतानुकूल व्यवसाय तथा विद्यार्थी की व्यावसायिक रुचि के अनुकूल ही होनी चाहिए। अभी तक हमारे यहाँ सेकेण्डरी स्कूलों में भी केवल विद्या प्राप्ति पर ही ध्यान दिया जाता है। तीन विशेष प्रकार की योग्यताएँ मानी जाती है—बौद्धिक, औद्योगिक तथा सामान्य। इन तीनों प्रकार की योग्यताओं को विकास का अवसर देना चाहिए। इसी आधार पर पाठ्यक्रम का निर्धारण करना चाहिए। इसका यह अर्थ हुआ कि प्रत्येक विद्यार्थी कुछ सामान्य विषय, जैसे मातृ-भाषा, सामान्य-विज्ञान तथा सामाजिक विषयों का अध्ययन अनिवार्य रूप से करे और उसके पश्चात् अपनी रुचि एवं योग्यताओं के अनुकूल विशेष विषय में विशेषता-प्राप्ति का प्रयत्न करे। इस प्रकार व्यक्ति की अन्तर्निहित योग्यताओं का विकास करके हम अपने देश की उन्नति करने में सफल होंगे और हमारे समस्त शैक्षणिक-प्रयत्न सार्थक बनेंगे। अस्तु सेकेण्डरी शिक्षा को स्वयं एक पूर्ण होना चाहिये।

पाठ्य पुस्तकें

अध्यापक के पश्चात्, मेरे विचार में, शिक्षा के महत्वपूर्ण साधनों में दूसरा स्थान पाठ्य-पुस्तकों का ही है। हाँ, हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि अन्य साधनों के समान ही इनकी भी कुछ सीमाएँ होती हैं। पाठ्य-पुस्तकों से हमें विषय की 'यथार्थ-परिभाषा' का भास होता है। इसके अतिरिक्त वे कार्य को व्यवस्थित रूप में उपस्थित करने में हमारी सहायता करती हैं। परन्तु, पाठ्य-पुस्तक का शब्दशः अनुसरण करना उसका सबसे बड़ा दुरुपयोग करना है। पृष्ठानुपृष्ठ पुस्तक को पढ़ कर पढ़ाना अवांछनीय है। इसके अतिरिक्त सबसे बड़ी बात यह है कि जिस पाठ्य-पुस्तक का हम प्रयोग करें वह वस्तुतः 'पाठ्य-पुस्तक' कहलाने योग्य हो।

इस विषय में दो बातें ज्ञात होती हैं, एक तो यह है कि अध्यापक को यह ज्ञान होना चाहिए कि एक पाठ्य-पुस्तक के क्या-क्या गुण होने चाहियें, दूसरी यह है कि अध्यापक को पाठ्य-पुस्तक चुनने और उसके प्रयोग करने का ज्ञान होना चाहिए।

पाठ्य-पुस्तक को चुनने के लिए कोई विशेष नियम नहीं है। भिन्न-भिन्न लोगों के मत भिन्न-भिन्न ही होंगे, इसमें सन्देह नहीं है। परन्तु अन्तिम चुनाव का अधिकार उस विशेष अध्यापक को होना चाहिए जिसे उस विषय की पाठ्य-पुस्तकों का प्रयोग करना है, अधिकारी वर्ग को नहीं। कारण, कि अधिकांश अधिकारी स्थानीय वातावरण से एवं उस विशेष वर्ग के विद्यार्थियों की आवश्यकताओं से पूर्णतः भिज्ञ नहीं होते। शिक्षा विभाग द्वारा पाठ्य-पुस्तकों का निर्देशन करना शैक्षणिक दृष्टि से बहुत गलत है। अध्यापक के लिए भी यह आवश्यक है कि पाठ्य-पुस्तक

चुनने से पहले वह विशेष विषय और उसकी बहुत सी पाठ्य-पुस्तकों को भली-भाँति पढ़े, उन पर मनन और चिंतन करे और उसके बाद अपना निर्णय दे। नीचे जो कुछ कहा जा रहा है वह केवल अध्यापकों के निर्देशन के लिए है।

१. लेखक—भिन्न-भिन्न विषयों की पाठ्य-पुस्तकें उन्हीं लोगों को लिखनी चाहिएँ जो उस विषय के विशेषज्ञ हों और कुछ अनुभव भी रखते हों। बहुत बार ऐसा देखने में आया है कि लोग जिस विषय के विशेषज्ञ होते हैं उनके अलावा अन्य विषयों की पाठ्य-पुस्तक भी लिख डालते हैं। बहुत से सज्जन अपने पद के कारण भी पुस्तकें लिखने में कतई संकोच नहीं करते। पाठ्य-पुस्तक का आधार केवल विषय सम्बन्धी दो-चार पुस्तकें पढ़ लेना ही नहीं होता, अपितु लेखक का निजी अनुभव अधिक महत्वपूर्ण होता है। जो अध्यापक अपने विषय का प्रसिद्ध अध्यापक हो उसी की लिखी हुई पाठ्य-पुस्तक स्वीकृत होनी चाहिए।

२. पाठन-सामग्री की अनुकूलता। (suitadility of Material) पाठ्य-पुस्तक के अन्तर्गत जो भी पठन-सामग्री हो वह अनुकूल यथार्थ और नवीनतम होनी चाहिए। अस्तु, पुस्तकों के नवीन संस्करण (री प्रिंट नहीं) ले लेने चाहिएँ। विषय का उपस्थापन भी पुस्तक में भली-भाँति स्पष्ट रूप से किया जाना चाहिए। पुस्तक की भाषा उस विशेष आयु-वर्ग के अनुकूल होनी चाहिए जिसके लिए वह पुस्तक लिखी गई हो। यह सब तब ही हो सकता है जब कि लेखक अपने विषय से भली-भाँति परिचित हो। मेरे विचार से यदि पुस्तक विषय के विशेषज्ञों की एक कमेटी द्वारा लिखी जाय तो वह एक श्रेष्ठ पुस्तक बनेगी। इस कमेटी में वे अध्यापक भी शामिल होने चाहिएँ जो उस विशेष विषय को उस विशेष कक्षा में पढ़ाते हों। उनके बिना उपयुक्त पठन सामग्री का चिंतन तथा उपयुक्त भाषा का प्रयोग करना कठिन होगा। उदाहरणार्थ आठवीं कक्षा के लिए भूगोल की पुस्तक लिखने के लिए कमेटी में,

(१) एक भूगोल का प्रोफेसर

(२) ट्रेनिंग कालेज का भूगोल का लेक्चरार, तथा,

(३) आठवीं कक्षा का भूगोल का अध्यापक, ये होने चाहियें।

(४) व्यवस्था (organisation)। पुस्तक के अन्तर्गत पाठ्य-सामग्री कितनी ही मूल्यवान क्यों न हो, यदि वह ठीक तरह से व्यवस्थित नहीं होगी तो, उसको सरलता से पढ़ना कठिन होगा। अस्तु, सामग्री को पाठों (lessons) और इकाइयों (units) में बांट लेना चाहिए। अध्यापक, यदि आवश्यकता हो तो, उसकी परिस्थितियों के अनुकूल पुनर्व्यवस्था कर सकता है। हर जरूरी जगह पर आवश्यक शीर्षक देने अच्छे हैं।

(४) चित्रण (illustrations) पुस्तक के चित्र स्पष्ट, बड़े और रंगीन होने चाहिएँ (विशेषकर बच्चों के लिए) इनसे न केवल पुस्तक सुन्दर ही लगती है वरन् उसकी उपयोगिता भी बढ़ जाती है।

इसका अर्थ यह नहीं कि पुस्तक चित्रों से भरी हो। बल्कि हरेक चित्र का कोई प्रयोजन होना चाहिए, साथ ही उसका कोई शैक्षणिक मूल्य भी होना चाहिए। चित्र, रेखाचित्र, सब स्पष्ट हों, जिससे उनको देखते ही उनका अभिप्राय ज्ञात हो जाए। जहां तक सम्भव हो पुस्तक के चित्र नये और मौलिक होने चाहिएँ, अन्य पुस्तकों में से काट कर नहीं लगाने चाहिए।

(५) प्रत्येक अध्याय के अन्त में उसका सारांश, तत्सम्बन्धी सुझाव तथा अन्य उपयोगी पुस्तकों के नाम दे देने चाहियें। एक श्रेष्ठ पाठ्य-पुस्तक के द्वारा अध्यापक को कुछ समस्याएँ एवं क्रिया उस पुस्तक से मिल जानी चाहिएँ।

पुस्तक में Appendices सबसे बड़े सहायक होते हैं। यदि उन्हें बीच में ही लगाने का प्रयत्न किया जाए तो विषय के प्रवाहात्मक विवेचन में अड़चन पड़ जाती है। इनका प्रयोग अधिकांश रूप से तालिकाओं, (Questionnairs) इत्यादि से होता है।

इसी प्रकार अंत में Index भी बहुत सहायक होता है। पुस्तक के प्रारम्भ में विषय की सूची भी होनी चाहिए।

(६) फारमेट (Format) विषय का उपस्थान पुस्तक के पढने में सहायता देता है। सूचना-पत्रालयों में इस कार्य को Subediting कहते हैं, पुस्तकों में यह भी अनिवार्य है। फारमेट के अन्दर (i) बड़े व छोटे शीर्षक (ii) छोटा व बड़ा टाइप (iii) नोट (iv) मार्जिन (Margine) (v) चित्रों का स्थान निश्चित करना तथा उनके शीर्षक देने होते हैं। इन सब के बिना समस्त पुस्तक पढ जाने के बाद महत्वपूर्ण विषयों को उसमें से खोजना पड़ता है, और फिर यह आशंका रहती है कि कुछ आवश्यक चीज छूट न जाए।

(७) गेट-अप (Get up) पुस्तक में कौन सा टाइप इस्तेमाल करना चाहिए यह उस स्तर पर निर्भर करता है जिसके लिए पुस्तक लिखी जाती है। छोटे बच्चों की किताबों में बड़ा टाइप इस्तेमाल किया जाता है। अस्तु, अनुकूल टाइप का प्रयोग करना भी महत्व रखता है। चाहे यह सुनने में अजीब लगे, परन्तु यह है ठीक कि अध्यापक को पुस्तक के कागज पर भी ध्यान देना चाहिए। बिना चमक का अनुकूल भार का कागज होना चाहिये। इसके अतिरिक्त कागज आकर्षक होना चाहिए और इतना मजबूत होना चाहिए जो जल्दी न फट जाय।

पुस्तक ज्यादा दिन चले इसके लिए उसकी जिल्द भी मजबूत होनी चाहिए। हमारे स्कूलों में जो पाठ्य पुस्तकें इस्तेमाल की जाती हैं प्रायः उनकी जिल्दें पतली होती हैं। नतीजा यह होता है कि बच्चे को एक साल में एक किताब की कई प्रतियां लेनी पड़ती हैं। इससे माता-पिता के ऊपर भी बेकार का बोझ पड़ता है। देहली के शिक्षा-विभाग ने यह सरक्यूलर निकाला है कि स्कूल के लिए जो पाठ्य पुस्तकें हों उनकी जिल्दें मजबूत बाईन्डोर्ड की होनी चाहिए। मुझे ज्ञात हुआ है कि इसी वजह से अब पाठ्य-पुस्तकों का खर्चा पचास प्रतिशत कम हो गया है।



(८) मूल्य (Price)—यह आवश्यक नहीं है कि एक अच्छी किताब कीमती भी हो। आजकल पुस्तकों के मूल्य बहुत बढ़ गये हैं जिनके कारण बच्चों की शिक्षा का व्यय भी बहुत बढ़ गया है। इन चीज़ों को रोकने की कोशिश होनी चाहिये।

यदि इन कामों को केवल प्रकाशकों पर छोड़ दिया जाय तो उन्नति होनी कठिन है। शिक्षा विभाग को पुस्तकें छापने या निर्दिष्ट करने का काम तो मेरे विचार से नहीं लेना चाहिये, हां, उनका निरीक्षण अवश्य करना चाहिये। टाइप, कागज़, जिल्द, मूल्य इत्यादि के बारे में कुछ निश्चय अवश्य उसे करना चाहिये। लेखक के सम्बन्ध भी कुछ नियम बना देने अच्छे हैं। उदाहरणार्थ, इन्स्पेक्टरों का पाठ्य पुस्तकों से सम्बन्ध नहीं होना चाहिये। नहीं तो हो सकता है प्रकाशक उन के पद से अनुचित लाभ उठायें।

यह सब एक श्रेष्ठ पाठ्य-पुस्तक के गुण हैं, परन्तु इनमें अध्यापक की चिंता का अन्त नहीं होता। पाठ्य-पुस्तक ब्लैकबोर्ड या चित्रों के समान ही एक सहायक साधन है। अध्यापक को उसका प्रयोग इसी रूप में करना चाहिए। पुस्तक में दिए हुए शब्दों तक ही उसका ज्ञान सीमित नहीं रहना चाहिए। इन पुस्तकों का प्रयोग सहायता लेने के लिये करना चाहिये। मानचित्रों, चित्रों, कठिन पाठ के अभ्यास आदि के लिए इनका प्रयोग होना चाहिये; विशेषकर भूगोल, इतिहास, विज्ञान आदि के विषय में। पाठ्य-पुस्तक का सदुपयोग या दुरुपयोग अध्यापक के ऊपर निर्भर करता है।

सफल-परीक्षा

'सफल परीक्षा प्रणाली' सदा से ही सन्देहास्पद विषय रहा है। इसका सम्बन्ध अधिकतर अनुचित अभ्यासों, तथा प्रश्न-पत्र का पता लगा लेने, परीक्षकों तथा विश्वविद्यालय के सत्ताधारियों तक पहुँच होने से लगाया जाता है। ये कारण भय का सचार करने के लिए पर्याप्त थे किन्तु अब तो परीक्षार्थियों ने परीक्षकों तथा निरीक्षकों के ऊपर बलप्रयोग भी प्रारम्भ कर दिया है। हाल ही में अलीगढ़ से सूचना मिली थी कि एक डिग्रीकालेज के प्रिंसिपल की केवल इसी कारण हत्या कर दी गई थी कि उन्होंने एक परीक्षार्थी को परीक्षा देते समय नकल करते हुए पकड़ लिया था। यदि इस दिशा में शीघ्र ही कोई कठोर कार्यवाही नहीं की गई तो मुझे भय है कि कोई भी व्यक्ति परीक्षक अथवा परीक्षा के समय सुपरिंटेंडेंट या निरीक्षक बनने का साहस न करेगा, और परीक्षायें पुलिस के कठोर नियन्त्रण में लेनी पड़ेंगी।

परन्तु मैं विद्यार्थियों में इस बढ़ती हुई विरोध की भावना का उत्तरदायी केवल विद्यार्थियों को ही नहीं मानता। हमारी सामाजिक तथा शैक्षणिक व्यवस्था भी समय के साथ चलने में पीछे रह गई है। आज का युग प्रतियोगिता का युग है—इसमें केवल विभिन्न राष्ट्रों में ही नहीं, वरन् व्यक्तियों में भी प्रतियोगिता की तीव्र भावना है। आर्थिक तथा बेकारी की कठोर समस्याएँ इस युग की प्रधान अंग हैं, अनेक व्यवसायों के लिये डिग्री या डिप्लोमा का होना आवश्यक है, यही कारण है कि विद्यार्थियों का एक मात्र ध्येय केवल परीक्षा पास कर लेना है। सहायक पुस्तकें तथा 'कोचिंग कालेजों' की भरमार सी हो रही है, और वास्तव में शिक्षा जिसको 'पूर्ण-जीवन के लिये तैयारी' माना जाता था, अब

हीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती। उचित अथवा अनुचित रीति से पास नें योग्य अंक पाना प्रत्येक परीक्षार्थी आवश्यक समझता है। यही ारण है फेल होने पर अथवा परीक्षा में किसी कारणवश पकड़े जाने र विद्यार्थी व्यग्र हो उठता है, उसे अपना जीवन नष्ट हुआ दिखाई देता है, और वह उचित अनुचित, अच्छा बुरा सब भूल जाता है। परिणाम यह होता है कि वह या तो आत्म-हत्या कर लेता है, अथवा परीक्षकों आदि की हत्या कर डालता है।

अस्तु हमें शिक्षा की प्रत्येक समस्या पर, विशेष कर परीक्षा के विषय पर पुनः विचार करना तथा उसका अध्ययन करना चाहिये। शिक्षा का उद्देश्य क्या है? तथा वर्तमान परीक्षा-प्रणाली उस उद्देश्य की पूर्ति में कहाँ तक सहायता पहुंचा सकती है? वर्तमान परीक्षा, यह सत्य है, कि विद्यार्थी की स्मरण-शक्ति की परिचायिका अवश्य है। दो वर्ष के समस्त कार्य की परीक्षा केवल पाँच या छः प्रश्नों पर अवलम्बित होती है। यद्यपि विद्यार्थी इन प्रश्नों को किसी प्रकार ठीक कर दे, तो कोरा होने पर भी वह डिग्री प्राप्त करने का अधिकारी मान लिया जाता है। इसके विपरीत जो विद्यार्थी सारे वर्ष ठीक तरह काम करता रहा हो, परन्तु किसी कारणवश परीक्षा-प्रश्नों को ठीक न कर सके, तो उसके अन्य गुणों व शक्तियों की अवहेलना करके उसे असफल घोषित कर दिया जाता है।

परीक्षा-प्रश्नों पर अंक देना भी पूर्णतः वैयक्तिक विषय है, जो अधिकतर परीक्षक की मनोदशा पर अवलम्बित होता है। प्रयोगों व अनुभव से प्रमाणित होता है कि एक ही उत्तर-पत्र को यदि दो परीक्षक पृथक-पृथक देखें तो उनके अंक देने में लगभग ५० प्रतिशत तक का अन्तर हो जाता है। यही नहीं एक ही परीक्षक एक ही पत्र को यदि पुनः किसी अन्य अवसर पर देखे तो उसी पर भिन्न अंक देता है, ऐसा भी कई बार देखा जा चुका है। परीक्षा की यह दशा अत्यन्त असन्तोष-जनक है। आधुनिक 'ओबजेक्टिव टेस्ट्स' परीक्षा की इस वैयक्तिकता

को तो कुछ अंशो में दूर कर सकते हैं, परन्तु अन्य समस्याएँ सम्मुख रह जाती हैं।

परीक्षा की इस समस्या को सुलझाने के लिए कुछ ऐसा प्रयत्न करना चाहिये जिससे वार्षिक परीक्षा को ही सबसे अधिक महत्व न दिया जाये। यदि यह सम्भव हो जाये तो परीक्षार्थियो को परीक्षकों से मित्रता गाठने, विश्वविद्यालय के अधिकारियो को रिश्वतें देने अथवा अन्य कोई अनुचित कार्य करने की आवश्यकता ही नही पड सकती। यह समस्या अत्यन्त जटिल है, प्रयोगों तथा अनुभवों से ही इसको सुलझाया जा सकता है। नीचे मैं अपने कतिपय तुच्छ सुझाव रखता हूं :—

१ विद्यार्थियों की उन्नति की परीक्षा करने के लिए मासिक 'आदर्श-परीक्षण' अत्यन्त सहायक सिद्ध हो सकते हैं। वार्षिक परीक्षाओ के कुल अंकों से लगभग बीस प्रतिशत अंक इन मासिक परीक्षणों को मिलने चाहियें।

२ लगभग २५ प्रतिशत अंक पाठ्यक्रम के अतिरिक्त कार्य- व्यायाम-शिक्षा, वाद-विवाद, पुस्तकालय आदि में पठन-पाठन, तथा आचरण व व्यवहार आदि, के लिए निश्चित होने चाहिएं। इसके लिए इन विषयों से सम्बन्धित अध्यापक ही उत्तरदायी होने चाहिएं।

३ वार्षिक परीक्षा के सम्बन्ध में कुछ सुझाव (वार्षिक परीक्षा के अंक कुल अंको का ५० प्रतिशत भाग होना चाहिए।)

(अ) वार्षिक परीक्षा के लिए परीक्षा से पूर्व ही कोई समय-विभाग परीक्षार्थियो को नहीं बताना चाहिए, उन्हें केवल इतना ही बताना चाहिये कि परीक्षा इस तिथि से आरम्भ होगी तथा अमुक तिथि पर समाप्त होगी। प्रश्न-पत्र का विषय अगली परीक्षा से केवल २४ घंटे पूर्व बताना चाहिए।

(आ) प्रश्न पत्र बनाते समय वास्तव में परीक्षक को उस विषय पर कोई भी शीर्षक लेकर प्रश्न बनाने चाहियें, जिससे उस विषय में विद्यार्थी

के वास्तविक ज्ञान का परिचय मिल सके। इसका उद्देश्य यह है कि दो वर्ष के समय में विद्यार्थी यथा-शक्ति उस समय उस विषय का अधिक ज्ञान प्राप्त करके, उसमें निपुणता प्राप्त कर सके। अब तो हम जानते ही हैं, कि केवल परीक्षा के निकट आने पर ही विद्यार्थी अपनी पढ़ाई प्रारम्भ करते हैं और किंचित निर्वाचित अध्ययन ही कर पाते हैं. यही कारण है कि सस्ते लेखक तथा प्रकाशकों को बहुत लाभ होता है, और दुकानों पर सस्ती सहायक पुस्तकों पर ढेर दृष्टिगोचर प्रकाशित किये जाते हैं, परीक्षा से कुछ दिन पूर्व छात्र इन उत्तरों को कंठाग्र कर लेते हैं और परीक्षा में सफल भी हो जाते हैं। अतः सर्व प्रथम इस प्रकार की सस्ती सहायक पुस्तकों का प्रकाशन बन्द कर देना चाहिये।

परीक्षा में बैठने से पूर्व प्रत्येक विद्यार्थी को कम से कम पाठ्य-क्रम के तीन चौथाई भाग का विधिपूर्वक अध्ययन अवश्य कर लेना चाहिए, सम्भवतः इस कार्य की सिद्धि के लिए यह उचित हो कि परीक्षा प्रारम्भ होने से एक मास पूर्व, प्रत्येक प्रश्न पत्र के विषय में लगभग पन्द्रह प्रश्न, सर्वसाधारण की सूचनार्थ प्रकाशित कर दिये जायें। इस प्रकार विद्यार्थी कम से कम प्रत्येक विषय के उन पन्द्रह प्रश्नों को अवश्य ही भली भांति पढ़ेंगे, और हमारी शिक्षा का कुछ उद्देश्य पूर्ण हो जायेगा।

मैं यह भी सुझाव रखता हूँ कि परीक्षा के हाल में प्रत्येक विषय की कुछी-कुछी 'रेफरेन्स बुक्स' होनी चाहियें, शब्द-कोष भी वहीं रखे जा सकते हैं, जिससे विद्यार्थी उनसे लाभ उठा सकें। ला (Law) की परीक्षाओं में ऐसा अब भी होता है। भूगोल आदि विषयों में प्रयोगिक तथा बाह्य कार्य भी परीक्षा का एक प्रमुख अंग होना चाहिए। छात्रों से श्रेणी के विद्यार्थी से 'भारत के प्राकृतिक विभाग' के सम्बन्ध में मौखिक प्रश्न करके उसकी स्मरण-शक्ति की परीक्षा लेने की अपेक्षा भारत का रिलीफ-मानचित्र पढ़ाना अधिक श्रेयस्कर होगा।

४. उत्तर-पत्र पर अंक देने के लिये मनोवैज्ञानिक आधार होना

क्षेत्र में समान रूप से सफलता प्राप्त कर सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति में कुछ 'साधारण योग्यता' अवश्य होती है; इसे उन्होंने 'g' नाम दिया। उनका कहना है कि यह साधारण योग्यता अथवा 'g' समस्त परिस्थितियों के लिए है। इसके अतिरिक्त कुछ 'विशेष योग्यताएँ (specific abilies) भी होती हैं; इसे वह "s" कहते हैं। 'बुद्धि परीक्षण' के द्वारा इसी 'g' को मापने का प्रयास किया जाता है। स्पीयरमैन के अनुसार इस 'g' की तीन विशेषताएँ हैं (यह स्पीयरमैन के "Neogenetic principles" कहलाते हैं।) यह विशेषताएँ ये हैं : (i) अपनी मानसिक-प्रक्रियाओं को स्वयं जानने की योग्यता, (ii) मानसिक तथ्यों के सम्बन्ध को जानने की योग्यता तथा (iii) इन सम्बन्धों का ज्ञान प्राप्त करके उनके निष्कासन की योग्यता, जिसमें उत्तम परिणाम निकल सकें।

आज हमारी सरकार ने समस्त देश में छः से चौदह वर्ष की आयु वाले बच्चों के लिये अनिवार्य निःशुल्क बुनियादी-शिक्षा-पद्धति के प्रचार का आन्दोलन प्रारम्भ किया हुआ है। यह हमारे लिए जरूरी है कि हमारे बच्चे अपनी शिक्षा समाप्त करके उचित निर्देशन प्राप्त कर सकें। उचित निर्देशनार्थ उनके 'g' तथा 's' (जिनके लिए aptitude tests हैं।) का ज्ञान प्राप्त किया जाए और उन्हें उनकी योग्यता के अनुसार आगे बढ़ने तथा व्यवसाय अपनाने का परामर्श दिया जाए। प्रचलित परीक्षण प्रणाली से जो परिणाम हमें ज्ञात होता है वह इस काम के लिए पर्याप्त नहीं होता, इनके स्थान पर उचित बुद्धि-परीक्षणों की आवश्यकता होती है; जन सेवा आयोगों को भी भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए कार्यकर्ता चुनते समय इन परीक्षणों का प्रयोग करना चाहिए।

ऊपर हम कह आये हैं कि बुद्धि की उचित परिभाषा नहीं दी जा सकती, परन्तु इससे बालक के जीवन में उसकी महत्ता कम नहीं हो जाती। बालक के जीवन एवं शिक्षा में 'बुद्धि' का महत्व बहुत अधिक है।

प्रत्येक बालक में बुद्धि समान मात्रा में नहीं होती, किसी व्यक्ति में वह अधिक होती है और किसी में कम और हमें इसी अन्तर का ज्ञान प्राप्त करना होता है। जिन बच्चो में बुद्धि की मात्रा अधिक होती है, (जो बच्चे तीव्र बुद्धि वाले होते हैं), वे प्रदत्त शिक्षा को आसानी से और शीघ्र ग्रहण करते हैं, कम बुद्धि वाले बच्चे इतनी सरलता से और इतनी शीघ्र शिक्षा ग्रहण नहीं कर पाते। इसलिये बच्चों की बुद्धि की परीक्षा करना आवश्यक है, इससे न केवल उनकी शिक्षा में ही सहायता मिलेगी, अपितु समय व शक्ति भी अपव्यय न होगी।

अपने प्रतिदिन के सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों की बुद्धि के विषय में हम थोड़ा बहुत ज्ञान साधारण रीति से प्राप्त कर सकते हैं परन्तु इस प्रकार जिस निष्कर्ष पर हम पहुँचते हैं वह सर्वथा ठीक नहीं हो सकता। बहुधा हमारे यह निष्कर्ष हमारे पक्षपात आदि से दूषित रहते है। अतएव हम इन पर सर्वथा विश्वास नहीं कर सकते। मनोवैज्ञानिकों ने जिन बुद्धि परीक्षणों का आविष्कार किया है वे सर्वथा वैज्ञानिक हैं। ये परीक्षण वैयक्तिक और सामूहिक दोनों प्रकार के हैं। पश्चिमी देशों में इस प्रकार की परीक्षण-प्रणाली का प्रयोग न केवल शिक्षालयों में ही किया जाता है वरन् सेना तथा अन्य व्यवसायों के लिए व्यक्ति चुनते समय भी किया जाता है। परन्तु भारत में बुद्धि-परीक्षणों का अधिक प्रचार अभी तक नहीं हुआ। अभी तक केवल पाँच परीक्षणों का ही निर्माण हुआ है, वे भी केवल स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल ही बनाए गए हैं। भारत की जनसंख्या अति विशाल है। परन्तु अभी तक केवल गिने चुने व्यक्ति ही कार्यक्षेत्र में आए हैं। हमारे पास मानव शक्तियों को नापने के कोई साधन नहीं हैं। यदि हम इस अ-प्रयुक्त जन-शक्ति को प्रयोग करें तो हमें आशातीत सफलता मिल सकती है। अपने देश की औद्योगिक एवं अन्य सामाजिक योजनाओं के लिए जन-शक्ति का प्रयोग करना अनिवार्य है और मनुष्य की योग्यताओं

को मापने के लिए यह परीक्षण तथा अन्य मनोवैज्ञानिक रीतियाँ भी अनिवार्य हैं।

यह सत्य है कि किसी मनुष्य की बुद्धि को हम बढ़ा नहीं सकते, परन्तु यदि हम उसकी मात्रा को जान जायें तो उसका उचित प्रयोग करने की विधि उस मनुष्य को अवश्य बता सकते हैं, हम उसे यह बताने में सहायता कर सकते हैं कि वह अपनी बुद्धि का सदुपयोग किस प्रकार कर सकता है। यही सच्ची शिक्षा का उद्देश्य है। प्रत्येक व्यक्ति को उसकी बुद्धि के अनुकूल शिक्षा मिलनी चाहिए, परन्तु यह तभी हो सकता है जब हमें उसकी बुद्धि का ज्ञान हो। इस दशा में भिन्न भिन्न वर्गों के व्यक्तियों के लिए उनकी बुद्धि के अनुकूल शिक्षा का प्रबन्ध किया जा सकता है। आयु के आधार पर बुद्धि परीक्षण भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होंगे, उनमें स्थानीय परिस्थितियों के कारण भी विभिन्नता हो सकती है। इसलिए हमारे यहाँ अधिक संख्या में बुद्धि परीक्षणों का निर्माण होना चाहिए—और उन्हें प्रामाणिक भी बनना चाहिए। सर्वमान्य बनने से पूर्व उनका प्रयोग एक बड़ी संख्या में बालकों पर करना चाहिए। इस प्रकार के परीक्षण बनाने, लिखने (उनका विन्यास करना), उनका प्रयोग करना तथा अंक प्रदान करना, इन विषयों का भली भाँति ज्ञान होना अनिवार्य है। मैंने यह अनुभव किया है कि बुद्धि परीक्षण की यह समस्या इतनी अधिक शास्त्रीय तथा गणितात्मक बना दी गई है कि प्रत्येक अध्यापक इनका प्रयोग नहीं कर सकता। यदि हमारे स्कूलों के अध्यापक इनका प्रयोग न कर सकें तो इनका महत्व कम हो जायेगा और भारत में बुद्धि परीक्षण का कार्य कुछ गिने चुने व्यक्तियों की जागीर बनकर रह जायेगा। इस प्रकार राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में इनका कोई लाभ न हो सकेगा।

बीने के पूर्व भी बुद्धि-परीक्षण के कुछ प्रयत्न किये गए थे और ऐसे सरल परीक्षण बनाये गए थे जैसे वाक्य-पूर्ति, चित्र पूर्ति करना, आकार,

एक शब्द व वाक्य आदि पहिचानने की गति, वर्ण-निर्देशन (दिये हुए कुछ शब्दों में से निर्देशानुसार कुछ वर्णों का काटना) इत्यादि। इस प्रकार के परीक्षण बनाने का कारण उनका यह विचार था कि बुद्धि एक सुसंगठित शक्ति है और एक ही कार्य या परिस्थिति में यह पूरी तरह व्यक्त हो सकती है। इस प्रकार जो परिणाम निकले वे प्रायः ही ठीक ठीक थे और उनमें अंशतः ही सफलता भी मिली।

सर्वप्रथम उपयुक्त बुद्धि—परिक्षण बीने ने साइमन के सहयोग से बनाए। वे बुद्धि को 'योग्यताओं' की एक जटिल व्यवस्था मानते थे, उन्होंने दिन-प्रतिदिन की कुछ साधारण समस्याएँ चुनी जिनको हल करने में 'बुद्धिमानी' की आवश्यकता होती है और उनको भिन्न-भिन्न वय के अनुसार श्रेणी में वर्गीकृत किया जैसे कि एक आठ वर्ष के बालक के लिए केवल वे ही कुछ समस्यायें थीं जिन्हें आठ वर्ष का एक औसत बालक पूरी तरह सुलझा सकता है। उसी तरह भिन्न भिन्न आयु के लिए किया गया। उन्होंने ये 'परीक्षण' ३ वर्ष से लेकर प्रौढ़ आयु तक के बालकों के लिए श्रेणीबद्ध किये और इस प्रकार के परीक्षणों की एक लम्बी तालिका बनाई और बारम्बार प्रयोग करने के बाद सन् १९११ में (स्केल) मानदण्ड प्रकाशित किया। उनके बनाए परीक्षण में से कुछ नीचे उद्धृत किये जाते हैं जिनसे उनकी पद्धति और स्पष्ट हो जायगी:—

आयु ३ वर्ष

१. नाक, आँख व मुँह की ओर इशारा करके बताना।
२. दो अंकों का दोहराना।
३. चित्र में दी गई वस्तुओं का बताना।
४. अपने परिवार वालों के नाम दोहराना।
५. अक्षरों तक के वाक्य दुहराना।

आयु ८ वर्ष

१. स्मृति के आधार पर दो वस्तुओं की तुलना करना।

२. २० से ० तक उल्टा गिनना ।

३. चित्रों में छूटी हुई चीजों को नोट करना ।

४. दिन व तिथि बताना ।

५. पाँच अंकों की पुनरावृत्ति करना ।

आयु १५ वर्ष

१ सात अंकों की पुनरावृत्ति ।

२. दिए गये शब्द के तीन आनुप्रासिक शब्द देना ।

३ २६ अक्षरों से वाक्य की पुनरावृत्ति करना ।

४ चित्रों को पढ़ना ।

प्रौढ़

१. कागज काटने के परीक्षण को पूर्ण करना ।

२ कल्पना में एक त्रिभुज की पुनर्व्यवस्था करना ।

२ दो विरोधी-भावात्मक शब्दों का अन्तर बताना ।

४ राष्ट्रपति तथा बादशाह में अन्तर बताना ।

५ पढ़े हुए अथवा सुने हुए उद्धरण के भाव बताना ।

आयु के अनुकूल परीक्षणों के देने से हमें यह ज्ञात होता है कि उस आयु के एक बच्चे में जितनी बुद्धि होनी चाहिए उतनी उस बच्चे में है अथवा नहीं । मान लीजिये आठ वर्ष का बच्चा उस परीक्षण में सफल नहीं होता जो आठ वर्ष के बच्चे के लिए है परन्तु उस परीक्षण में सफल हो जाता है जो छ. वर्ष के बच्चों के लिए है । तो इसका अर्थ यह हुआ कि यद्यपि उस बच्चे की कालानुक्रमीय या शारीरिक वय आठ वर्ष है, उसकी मानसिक वय केवल छ वर्ष ही है ।

बीने द्वारा बनाए गए यह परीक्षण व्यक्तिगत परीक्षणों, विद्यानिवम तथा काम-निर्देशन आदि के लिये बहुत लाभदायक हैं । इन परीक्षणों में

प्रत्येक बालक की व्यक्तिगत रूप से परीक्षा की जाती है, इसलिए इसमें समय भी अधिक लगता है, अनेकों कठिनाइयाँ भी आती हैं और बहुत धैर्य की भी आवश्यकता पड़ती है विशेषकर जब अधिक बालकों पर इसका प्रयोग करना हो।

अब अनेकों देशों ने इन परीक्षणों को स्वीकार कर लिया है; कई विद्वान जैसे सिरिल बर्ट, टरमन आदि ने इनमें और उन्नति भी की है। जर्मनी व इटली में भी इन पर कुछ प्रयोग हुये हैं। टरमन के प्रथम संशोधन को स्टैन्फोर्ड संशोधन कहते हैं; दूसरी बार टरमन ने मेरिल के सहयोग से काम किया और परीक्षण बनाए व अधिकांश अंग्रेजी भाषी देशों में इन्हीं का प्रयोग किया जाता है। बुद्धिलब्धि (Intelligence Quotient) की देन टरमन की ही है; परिणाम अभिव्यक्त करने में अब बुद्धिलब्धि (Intelligence Quotiet) का ही प्रयोग किया जाता है। बुद्धिलब्धि निकालने का सूत्र अत्यन्त सरल है:—

$$\text{बुद्धि-लब्धि (I Q.)} = \frac{\text{मानसिक वय}}{\text{शारीरिक वय}} \times १००.$$

मानसिक योग्यता बताने की यह विधि सरलतम मानी जाती है।

प्रत्येक मनुष्य के जीवन-पर्यन्त उसकी बुद्धि-लब्धि अपरिवर्तित ही रहती है। माना जाता है कि एक देश की लगभग ६० प्रतिशत जनसंख्या की बुद्धिलब्धि साधारण अथवा औसत है अर्थात् ९०—१०० के बीच, २० प्रतिशत व्यक्ति साधारण से ज्यादा बुद्धिमान तथा शेष २० प्रतिशत साधारण से कम बुद्धि वाले होते हैं। देशवासियों की बुद्धि विषयक यह सूचना प्राप्त करना शिक्षा आदि की योजनाएँ बनाने में बहुत लाभदायक हो सकता है।

भारत में बीना-परीक्षणों के संशोधन करने के बहुत कम प्रयास किए गए हैं। सर्व प्रथम सन् १९२२ में हरबर्ट राइस ने इन पर काम

किया; ये परीक्षण साधारण हिन्दुस्तानी में थे और उनका नाम था "Hindustani Binet performance point scale" सन् १९४० में डा० वी वी० कामथ ने स्टैन्फोर्ड संशोधन पर पुनः काम किया और मराठी व कनड में परीक्षण बनाए। इनके अतिरिक्त अन्य प्रयत्न भी किये गये परन्तु प्रामाणिक रूप से अभी तक कुछ नहीं बनाया गया। आशा है कि भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी प्रदेशों में व्यक्ति इस दिशा में प्रयत्न करके प्रामाणिक परीक्षण तैयार करेंगे।

बुद्धि के व्यक्तिगत परीक्षण की उपयोगिता एक ऐसे देश में जिसकी जन-संख्या बढ़ती हुई हो, कुछ सीमित है, इसके स्थान पर सामूहिक परीक्षण अधिक उपयोगी होंगे। ऐसे परीक्षणों को बनाने का श्रेय संयुक्त-राष्ट्र अमेरीका को है। सन् १९१७ में जब अमेरीका युद्ध में उतरा उस समय यह परीक्षण बनाए गये। यह परीक्षण आर्मी-एल्फा व आर्मी-बीटा टेस्टस के नाम से बनाये गए और इनका प्रयोग लगभग १७,००,००० व्यक्तियों पर किया गया। इन परीक्षणों का जो क्रम निर्धारित किया गया वह बहुत विश्वसनीय सिद्ध हुआ। उसके बाद अमरीका में कई सामूहिक परीक्षण बनाये गये जिन सिद्धान्तों के आधार पर ये परीक्षण बनाये गये वे बीने के सिद्धान्तों से ही मिलते हैं, परन्तु प्रश्नों का विन्यास तथा उनके प्रयोग की विधि भिन्न थी। प्रश्नों के करने का ढंग तथा उनके जो उत्तर होते थे वे ऐसे हैं कि जिनके परीक्षण विश्वसनीय हो सकते हैं। इनमें से अधिकांश में प्रत्येक प्रश्नों के सामने उसके तीन-चार सम्भावित उत्तर दिये जाते हैं जिनमें से सिर्फ एक, जिसको परीक्षार्थी उस प्रश्न का सबसे सही उत्तर समझे, के नीचे रेखा खींचनी होती है जैसे एक बुद्धिमान व्यक्ति को मदिरापान नहीं करना चाहिए। क्योंकि—

१. यह कड़वी होती है।

२. यह मँहगी होती है।

३. यह स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है।

भारत में डा० एस० जलोटा (बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय) तथा कर्नल सोहनलाल ने कुछ सामूहिक-परीक्षण बनाये हैं। डा० जलोटा ने सन् १९३७ में कॉलिज के विद्यार्थियों के लिए सामूहिक परीक्षण तथा कर्नल सोहन लाल ने ग्यारह वर्ष के बालकों के लिए ऐसे ही परीक्षण बनाये। इलाहाबाद के मनोवैज्ञानिक केन्द्र के श्री सी० एस० भाटिया भी ऐसे परीक्षण तैयार कर रहे हैं।

सामूहिक बुद्धि-परीक्षणों से सीधे ही बुद्धि-लब्धि का पता नहीं लगता। उनसे हमें केवल अंक ही मिलते हैं, बाद में उन्हें मानसिक अवस्था या बुद्धि-लब्धि में बदला जाता है। इसमें मानकों की तालिका की सहायता लेनी पड़ती है। इस तालिका से यह ज्ञात हो जाता है कि कितने प्राप्तांक किसी विशेष आयु के बालक के लिए औसत हैं। एक बात का और विशेष ध्यान रखना चाहिये कि केवल एक ही परीक्षण से प्राप्त परिणाम विश्वसनीय नहीं होता; एक ही प्रकार के कम से कम तीन परीक्षणों का प्रयोग करना चाहिये। परीक्षण तैयार करते समय भी यह ध्यान रखना चाहिये कि एक प्रकार का केवल एक ही परीक्षण न बनाया जाय।

बुद्धि-परीक्षणों आदि का अध्ययन करने से कुछ समस्यायें सामने आई हैं जिन पर भी विचार किया जा सकता है। उदाहरणार्थ :

१. माता-पिता तथा संतान में समानताएँ।
२. पारिवारिक समानताएँ।
३. जुड़वा बच्चों में समानताएँ।
४. भाई बहिनों में समानताएँ।
५. पृथक् पृथक् रहने वाले सम्बन्धियों में समानताएँ।
६. साथ रहने वाले उन व्यक्तियों में समानताएँ जो परस्पर सम्बन्धी न हों।

७. वातावरण तथा शिक्षालय का बुद्धि पर प्रभाव। इत्यादि–

ऊपर हमने बुद्धि-परीक्षणों के रूप एवं उनके महत्व को देखा। इससे यह स्पष्ट है कि मनुष्य के जीवन में उसकी बुद्धि का महत्व कितना अधिक है। जैसा कि स्पीयरमैन ने कहा है, 'g' मनुष्य की समस्त क्रियाओं में समान है उसके 's' का ज्ञान प्राप्त करके उन देशों के सम्मिश्रण से व्यक्ति निस्सदेह उस उच्चता पर पहुँच सकता है, जिस पर पहुँचने की योग्यता उसमें विद्यमान है। यदि विशेष योग्यता का ठीक ज्ञान न हो तो 'g' का 's' के साथ गलत सम्मिश्रण होने की सम्भावना रहती है, इस प्रकार 'g' का मूल्य भी नष्ट हो जायगा। बुद्धि की मात्रा मनुष्य की क्रियाओं को सीमा के स्तर-बद्ध कर देती है और यदि हमें उसका पूरा-पूरा ज्ञान होगा तो हमें पूरी सफलता नहीं मिल सकती क्योंकि इस ज्ञान के बिना यह बाधक हो जाती है कि कोई मनुष्य अपनी बुद्धि के लिए बहुत कठिन काम करे और कोई मनुष्य ऐसा काम करे जो उसकी बुद्धि की मात्रा को देखते हुये उसके लिए अत्यन्त सरल हो। यह दोनों ही सीमायें हानिकारक हैं। अस्तु, यदि बुद्धि परीक्षण का प्रयोग जीवन के प्रत्येक क्षेत्र (व्यवसाय) में किया जाये तो निस्सदेह हमें बहुत सफलता मिलेगी। इनके साथ ही अभिवृत्ति, अभियोग्यता, प्राप्त-योग्यता आदि परीक्षणों का प्रयोग भी किया जायगा। हर राज्य को भी ऐसे कार्यकर्ताओं की नियुक्ति करना चाहिये जो 'बीने स्केल' का संशोधन कर के उन्हें परिस्थितियों के अनुकूल बनायें तथा स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल अन्य सामूहिक एवं व्यक्तिपरीक्षण आयोजित करें। स्कूल की शिक्षा प्रारम्भ करने से पूर्व प्रत्येक बच्चे पर इन परीक्षणों का प्रयोग करना चाहिये, उसके बाद प्रत्येक वर्ष उनकी परीक्षा इसी प्रकार लेते रहना चाहिए जिससे यह मालूम हो सके कि उन्होंने अपनी बुद्धि के अनुकूल शिक्षा प्राप्त की है या नहीं; यदि नहीं तो यह समझना चाहिए कि कहीं कोई त्रुटि रह गई है—सम्भवतः विषयों के चुनाव या अध्ययन-विधि आदि में।

जहाँ तक विभिन्न व्यवसायों आदि का सम्बन्ध है, चुनाव की अन्य विधियों के साथ-साथ बुद्धि परीक्षणों का प्रयोग भी होना चाहिये। एक चीज इस सम्बन्ध में आवश्यक दीख पड़ती है। वह यह कि मनोवैज्ञानिकों आदि को विशेष व्यवसायों के लिये आवश्यक गुणों, अभिवृत्तियों आदि का निर्णय विशेषरूप से कर देना चाहिये और उस विशिष्ट व्यवसाय के लिये उस व्यक्ति को ही चुनना चाहिये जिसमें वे सब गुण विद्यमान हों। आजकल केन्द्रीय जनसेवा-आयोग आदि संस्थायें जिस प्रकार व्यवसाय नियुक्ति के निमित्त चुनाव करती हैं उनमें यह स्पष्ट नहीं होता कि किस व्यवसाय के लिये किन गुणों की आवश्यकता है।। हमें प्रत्येक व्यवसाय के कुछ स्तर (मानदण्ड) निश्चित करने चाहियें जिससे चुनाव ठीक प्रकार हो सके और व्यवसायों में जो अयोग्य व्यक्ति आ जाते हैं उनकी संख्या कम की जा सके। बहुधा अति प्रखर बुद्धि वाले व्यक्ति ऐसे कामों को करने के लिये चुन लिये जाते हैं जिनमें इतनी बुद्धि की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार उनकी बुद्धि का सदुपयोग नहीं हो पाता, जैसे कई बार हम अनेक नौकरों, चपरासियों आदि को बहुत बुद्धिमान पाते हैं और उनकी बुद्धि-लब्धि भी अधिक पाई जाती है। यदि हम बुद्धि-परीक्षणों आदि की सहायता से ऐसे व्यक्तियों को खोज कर उपयुक्त काम करने को दें तो निःसंदेह वे भी देश के अभ्युत्थान में बहुत बड़ा सहयोग प्रदान कर सकते हैं।

शिक्षा व मनोविनोद

प्रस्तुत लेख के शीर्षक में ऐसे दो शब्दों का संयोग किया है जिनका कोई संयोग होना साधारण दृष्टि से असंगत प्रतीत होता है। सम्भवत, रूढ़िग्रस्त व्यक्ति इस योग को पसन्द भी न करें। साधारण जन की दृष्टि में 'शिक्षा' का समस्त उत्तरदायित्व स्कूलों पर है तथा मनोविनोद का स्थान स्कूल के बाहर, घर तथा मित्रों आदि में है। ऐसी स्थिति में 'शिक्षा' तथा 'मनोविनोद' का परस्पर कोई सम्बन्ध भी हो सकता है, यह उनके लिए अकल्पनीय बात है। उनके विचार में शिक्षा प्राप्ति में मनोविनोद तथा मनोविनोद में शिक्षा का कोई स्थान नहीं है।

परन्तु फिर भी, यह कहना अयुक्ति-युक्त न होगा कि शिक्षा व मनोविनोद मनुष्य जीवन के दो महत्वपूर्ण पहलू हैं और मनुष्य के विकास में दोनों का ही स्थान महत्वपूर्ण है। यदि हम यह मानते हैं कि शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थी को भावी जीवन के लिए तैयार करना है तो इस तैयारी के लिए शिक्षा में उसकी समस्त क्रियाओं—बौद्धिक, शारीरिक एवं आध्यात्मिक—का समावेश होना अनिवार्य है। मनुष्य एक पूर्ण इकाई है, उसकी समस्त क्रियाओं का परस्पर अनिवार्य सम्बन्ध है। आधुनिक मनोविज्ञान का मत है कि मनुष्य के प्रत्येक कार्य में उसकी शिक्षा का प्रतिबिम्ब होना चाहिये। शिक्षा का अर्थ केवल पढ़ने लिखने इत्यादि की शिक्षा देना ही नहीं है और न शिक्षा का यह अर्थ है कि बच्चा कुछ नियत समय तक डेस्क पर झुक कर पुस्तकें पढ़ता रहे। यदि हम यह चाहते हैं कि उसकी शिक्षा प्रभावात्मक और लाभदायक हो तो उसके लिए यह भी आवश्यक है कि वह शिक्षा प्राप्ति में आनन्द ले सके, दूसरे

शब्दों में हम कह सकते हैं कि शिक्षा में मनोरंजन का थोड़ा सा पुट होना जरूरी है, इस विषय में सारे शिक्षाविद पेस्टोलोजी, हरबर्ट, फ्रायबिल, मोन्टेसोरी, ड्युई, गांधी और टैगोर एक मत हैं। खेल पद्धति, संगीत, नृत्य आदि के शैक्षणिक मूल्य को वे भली भाँति समझते हैं, इन बातों को वे केवल मनोरंजन का साधन ही नहीं समझते। रेडियो, फिल्म, ग्रामोफोन, ड्रामा आदि जो चीजें आज तक केवल क्षणिक मनोरंजन का साधन समझी जाती थीं, अब शिक्षा का उत्तम साधन मानी जाने लगी हैं, क्योंकि इनसे मनोरंजन के साथ-साथ शिक्षा ग्रहण करने पर उनकी उसमें न तो रुचि नष्ट होती है न थकान पड़ती ही है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा स्थापित शान्ति निकेतन में संगीत, नृत्य तथा अन्य ललित कलाओं का सम्बन्ध शिक्षा के अन्य विषयों के साथ किया गया है, वहाँ शिक्षा खुले मैदान में दी जाती है। मनोरंजन के साथ शिक्षा देने का यह एक अभूतपूर्व प्रयोग है। वर्तमान काल के शिक्षाविद इस प्रकार शिक्षा में नवीनता लाने के दृढ़ पक्ष में हैं।

फ्रायबिल का कथन है कि "Play is the hand maid to education' यह कथन पूर्ण सत्य है। जो व्यक्ति बाल-मनोविज्ञान से परिचित नहीं हैं वे ही इस कथन से सहमत नहीं होंगे, अन्यथा समस्त बाल-मनोविज्ञान से परिचित व्यक्ति इस बात को मानते हैं। मनोविज्ञान का एक सत्य है कि प्रत्येक बालक (और वयस्क भी) खेल तथा मनोरंजन चाहते हैं। यदि हम उपरोक्त दोनों सत्यों को ध्यान में रखकर बच्चों के स्कूल तथा स्कूल के बाहर के जीवन की व्यवस्था करें जो अनुशासनहीनताएँ हम आजकल के नवयुवक और नवयुवतियों में पाते हैं वे ही अनुशासनहीनताएँ आगे आने वाले युवक और नवयुवतियों में न आ पाएँ। परंतु यह समस्या हमारे सामने दो रूपों में आती है, पहला—कक्षा में शिक्षा का सम्बन्ध मनोरंजन से किस प्रकार किया जाए और दूसरा—अवकाश के समय की मनोरंजनार्थ-क्रियाओं तथा संगठित क्रियाओं का प्रबन्ध

कैसे किया जाय ? इसमें से समस्या के प्रथम रूप के निवारणार्थ कुछ उपाय किये जा रहे हैं परन्तु दूसरे की अभी तक अवहेलना हो की जा रही है, जिसका परिणाम यह हो रहा है कि स्कूलों में केवल नाम के लिए पाठ्यक्रमेतर क्रियाएँ (Extra-curricular activities) रख ली जाती है। सामान्यतः विद्यार्थी यह नहीं समझ पाते कि वे अपने अवकाश का किस प्रकार सदुपयोग किया जाए।

बहुत से लोगों को आधुनिक क्रिया-केन्द्रित शिक्षण पद्धतियों के बारे मे एक शिकायत यह है कि उनमे पैसा ज्यादा लगता है। लेकिन वस्तुतः उनका यह सन्देह है। इसमें सन्देह नहीं कि इन पद्धतियों मे अध्यापक की योग्यता, आत्म-निर्भरता, उत्साह, उसकी बुद्धिमत्ता आदि की अधिक आवश्यकता होती है। इसलिए इन पद्धतियों की सफलता के लिए अधिक योग्य अध्यापकों की जरूरत है। डाल्टन-योजना, मोन्टेसरी पद्धति, बेसिक प्रणाली तथा शांति-निकेतन की शिक्षण-शैलियों की सफलता अधिकांश मे अध्यापक की कल्पना एवं व्यक्तित्व पर निर्भर है। यदि अध्यापक की कल्पना प्रखर नहीं है और वह डरपोक और आलसी है तो उसके हाथ में आकर फिल्म, रेडियो, ग्रामोफोन, एक्शन सॉग (क्रियात्मक गीत) केवल मनोरंजन के हीन साधन मात्र बनकर रह जायेंगे, वह उनसे कुछ शैक्षणिक लाभ नहीं उठा पायेगा। अस्तु, मनोरंजन के साथ शिक्षा की उचित मात्रा होनी चाहिए। दोनो का मिश्रण दोनों की उचित मात्रा में लेकर करना चाहिए और अध्यापक को इस "मिश्रण" पर पूर्ण विश्वास होना चाहिए।

साधारणतया, हमारे देश मे माता-पिता यही सोचते है कि स्कूल की आखिरी घण्टी के साथ ही बच्चों की पढ़ाई समाप्त हो जाती है। माता-पिता के अतिरिक्त स्कूल के अध्यक्ष भी पाठ्यक्रमेतर क्रियाओं तथा मनोरंजन को कोई महत्व नहीं देते, वे भी यही समझते है कि श्रेणी में विषयों की शिक्षा देना ही उनके लिए बहुत है, उसके साथ ही उनका

काम भी समाप्त हो गया। माता-पिता तथा अध्यापकों के इस विचार का एक कारण यही है कि वे मनोविज्ञान के इस सिद्धान्त को भूल जाते हैं या जानते नहीं कि बच्चा अपने जीवन के प्रत्येक क्षण शिक्षा ग्रहण करता है। इसी विचार के आधार पर अब extra-curricular activities के स्थान पर Co-curricular activities शब्द को मान्यता दी गई। इस तरह हम देखते हैं कि बच्चे पर प्रत्येक क्षण ध्यान देना आवश्यक है, उसकी मनोरंजनार्थ क्रियाओं को ऐसा रूप देना चाहिये जिससे उसे शिक्षा भी प्राप्त हो।

परन्तु माता-पिता तथा अध्यापकों के लिए यह विषय कि उनके बच्चे अवकाश के समय क्या करते हैं, सबसे अधिक मनोयोग और चिंतन का विषय है, क्योंकि हमारे बच्चों के लिये ऐसी क्रियाएँ जो स्वास्थ्य-कर शैक्षिक क्रियाएँ भी हों और उनसे बच्चों का मनोरंजन भी हो, नहीं के बराबर हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जो कुछ शिक्षा बच्चे स्कूल में ग्रहण करते हैं वह भी स्कूल से बाहर आकर भूल जाते हैं। किसी खेल में भाग लेना, सूचना पत्र तथा अन्य हल्का-फुल्का साहित्य पढ़ना भी उतना ही मनोरंजक होता है। स्कूल के बच्चों को ऐसे स्थानों की सैर कराने ले जाना चाहिये जो ऐतिहासिक और भौगोलिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हों। बच्चों के लि विशेष रूप से शिक्षाप्रद फ़िल्में दिखाना, रेडियो से विद्यार्थियों को प्रोग्राम सुनवाना, उनके क्लब बनवाना, उनके लिये सामुदायिक पुस्तकालय स्थापित करना, इत्यादि ऐसी बातें हैं जो मनोरंजन भी करती हैं और शिक्षा भी देती हैं। अभी तक हमारे बच्चों के लिये उचित साहित्य की बहुत कमी है। परन्तु अब भारत सरकार ने बच्चों और नव शिक्षितों के लिए साहित्य रचना की एक स्कीम जारी की है। विभिन्न राज्यों की सरकारें तथा प्राइवेट संस्थायें भी ऐसा काम आसानी से कर सकती हैं।

क्लब एवं मोंटेसरी शिक्षा के प्रकार साधन माने गये हैं। इनमें

सदस्यो, बच्चे और बूढ़ो, को उनकी मानसिक और शारीरिक आवश्यकताओं के लिए यहां से उचित खाद्य-सामग्री प्राप्त होती है। अपने साथ के अन्य व्यक्तियो से मिलने जुलने की नैसर्गिक प्रवृत्ति प्रत्येक व्यक्ति में होती है। सभा सोसाइटियो एव क्लबों की उपादेयता सबसे अधिक इसीलिये है कि उनका जन्म मनुष्य की इसी प्रवृत्ति के कारण हुआ है। परंतु शोक की बात यह है कि अभी ऐसी चीजें हमारे स्कूलों मे प्रवेश नही पा सकी, उनसे बहुत दूर हैं। हमारे स्कूल इस आदर्श से बहुत दूर हैं।

परन्तु अब हमें अपनी इन असफलताओं से पूरी तरह शिक्षा लेनी चाहिये। हम माता-पिता होकर भी अपने बच्चो के स्कूलो को कुछ सहयोग नही देते जिससे उनकी शिक्षा लाभदायक बन सके। हममे से जो स्वयं अध्यापक हैं वे भी ऐसी सस्थाओं, क्लबो, सोसाइटियों आदि की उपादेयता पर कुछ विचार नही करते। अध्यापक वर्ग इन चीजो को अपने क्षेत्र के बाहर की चीजें समझता है। यदि कुछ स्कूलो में ऐसी व्यवस्था है भी तो वे बिचारी बिल्कुल निर्जीव सी पड़ी है। हमें उनमें नव प्राण फूँकने की जरूरत है, हमे ऐसे उपाय करने चाहिये कि हम उनकी महत्ता और उपादेयता को बढ़ा सकें। हमें यह समझ लेना चाहिये कि ऐसी सस्थायें बच्चो को सामाजिक गुणों, सामूहिक कार्य, उत्तरदायित्व सम्हालने आदि की शिक्षा देती हैं, अतएव वे हमारी शिक्षा व्यवस्था के अनिवार्य अंग हैं। इसके अतिरिक्त इनसे बच्चो का मनोरंजन भी हो जाता है जिससे श्रेणी के नीरस पाठो के बाद उनमे सजीवता आ जाती है।

इसी सम्बन्ध में ड्रामो का भी बहुत महत्व है। छपे हुए अक्षरों की अपेक्षा सजीव पात्रों द्वारा खेला गया नाटक अधिक प्रभावशाली और चिरस्थायी होता है। नाटक के पात्र, स्टेज सज ने वाले, प्रोम्पटर इत्यादि सब उसे खेल कर अनुपम शिक्षा ग्रहण करते हैं। यदि हम 'किंग-लीयर' नाटक केवल पुस्तक मे पढ़ा दें तो बच्चो पर इतना प्रभाव नही

पढ़ना जितना उसे खेलकर और दर्शकों के रूप देखकर पड़ेगा। इस प्रकार उसका मनोरंजन भी होता है और वे शिक्षा भी आसानी से ग्रहण कर लेते हैं। अवकाश का सदुपयोग करने का भी यह बहुत अच्छा साधन है, इसीलिए शिक्षाविद इस साधन को अत्यधिक महत्व देते हैं। अवकाश का सदुपयोग करने की शिक्षा को ग्रहण करना उतना ही महत्वपूर्ण है जितना इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र आदि का ज्ञान प्राप्त करना।

हमारे देश में आजकल प्रौढ़ अथवा समाज शिक्षा का बहुत बड़ा प्रचार हो रहा है। प्रत्येक प्रौढ़ व्यक्ति को अवकाश के समय पढ़ना लिखना व अन्य शिक्षा प्राप्त करने के लिए कहा जाता है। हमारे यहाँ के साधारण किसान अथवा प्रौढ़ व्यक्ति अपने अवकाश को हुक्का पीने या इधर-उधर की बातें करने में व्यतीत करते हैं। यह मनोरंजन निरर्थक है। समाज-शिक्षा कार्य-क्रम में उन्हें शैक्षणिक मनोरंजन प्रदान किया जाता है। मनोरंजक फिल्मों, सूचनाओं, वादविवाद, पुस्तकालय आदि के द्वारा मनोरंजन और शिक्षा का प्रबन्ध किया जाता है। इस प्रकार प्रौढ़ व्यक्ति का मनोरंजन भी होता है और वह उपयोगी बातें भी सीखता है। इस प्रकार उसे अपने जीवन को अच्छी तरह व्यतीत करने की शिक्षा मिलती है।

शिक्षालयों में सामाजिक-जीवन की शिक्षा

शिक्षालयों और अन्य सामाजिक संस्थाओं में सामाजिक जीवन का सम्पूर्ण ज्ञान ही इन संस्थाओं की उन्नति में सहायक हो सकता है। सामाजिक-जीवन के आदर्शों को सामने रखते हुए हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति में व्यक्ति-गत भाव, विचार, कल्पना और भावुकता का समावेश होता है, चाहे उसका समाज में कोई भी स्थान क्यों न हो। अतः सामाजिक जीवन की पूर्णता के लिये प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्तियों के विकास का अवसर देना चाहिए, उन पर किसी प्रकार का दबाव अथवा उनसे बल-पूर्वक आज्ञा पालन करवाना, उनके उचित विकास में बाधक है सामाजिक जीवन की शिक्षा से बालक में कर्तव्य-परायणता, सेवा तथा सहयोग की भावना उत्पन्न होती है, अतः यह चरित्र-निर्माण का उत्तम साधन है। शिक्षालय के समाज में भिन्न-भिन्न जातियों तथा वर्गों के बालक होते हैं, अतः वहाँ जाति या वर्ग-भेद कुछ नहीं माना जाता। बाल्यावस्था में मैत्री की प्रवृत्ति बहुत तीव्र होती है, अतः उन्हें वर्गों और जातियों की चिन्ता नहीं होती।

प्रत्येक विद्यार्थी बालक के लिये गृह और शिक्षालय दो समाज हैं, जिनका उन्हें पूर्ण ज्ञान होता है। जातीय-उन्नति कक्षा के अतिरिक्त अन्य संस्थाओं में ही अधिक सम्भव है, अतः बोर्डिंग हाउस में शिक्षालय-सामाजिक-जीवन की शिक्षा अच्छी तरह दी जा सकती है। घर तथा स्कूल दोनों पर उनका भार रहता है। जो विद्यार्थी केवल दिन भर के लिए स्कूल आते हैं विशेषकर उनका भार स्कूलों तथा घरों दोनों पर

होता है। ऐसी अवस्था में, विद्यालय के बाहर की प्रत्येक क्रिया बालक के रिक्त-समाज पूर्ति की समस्या बन जाती है, जिसके प्रबन्ध का उत्तर-दायित्व घर पर है।

हमारे भारतीय विद्यालयों की क्या अवस्था है ? मेरे विद्यार्थी जीवन में विद्यालयों में सामाजिक जीवन का सर्वथा अभाव था। कुछ समय केवल खेल के मैदान में सामाजिक शिक्षा के लिए मिलता था। खेल भी सप्ताह में तीन दिन ही होते थे, उसमें से भी गृह के काम-काज के कारण मुझे एक सप्ताह तक अनुपस्थित रहना पड़ता था। किन्तु हर्ष का विषय है कि आजकल स्कूलों में व्यवस्थित रूप से ये प्रारम्भ कर दिये गये हैं।

विदेशों में मुझे कुछ विद्यालयों को देखने का सौभाग्य मिला, जिसमें साउथ हैम्पटन स्थित 'किंग एडवर्ड' भी था। उस स्कूल में सामाजिक-क्रियाओं पर विशेष ध्यान दिया जाता है, जिसके कारण बहुत सी समस्याएँ सरलता-पूर्वक हल हो जाती हैं। विशेष अवसरों पर बालक चाय के समय तक स्कूल में ही रहते हैं, दिन में भाँति-भाँति के खेल आदि होते हैं। स्कूल से दूर रहने वाले विद्यार्थियों के घर जाने के लिए विशेष प्रबन्ध किया जाता है। इन अवसरों पर अध्यापक और शिक्षक मनुष्यिम रूप से परस्पर मिलते हैं। हमारे विद्यालयों में शिक्षकों तथा विद्यार्थियों के इस प्रकार मिलने का कोई अवसर नहीं दिया जाता। फलस्वरूप अध्यापकगण विशेषकर प्रधान अध्यापक बालकों से बिल्कुल अनभिज्ञ रहते हैं। शिक्षक और छात्रों के बीच अलभ्य दीवार खड़ी हो जाती है। दोनों के मध्य मित्रता की अपेक्षा स्वामी और सेवक का सम्बन्ध रह जाता है। प्राचीन देवताओं के समान अध्यापक उच्च पद रह पर आसीन रहते हैं। मोनीनम्य पर्वत की उच्चतम शृंखला पर आसीन, नीचे खड़े हुए भयभीत, कंपित और आदर एवं श्रद्धा से पूर्ण, अपने पुत्रों की ओर वे उदासीन और गर्वमयी दृष्टि से देखते हैं। मेरे कहने का आशय यह नहीं है कि छात्र शिक्षकों का समुचित आदर न करें, वरन् केवल इतना ही है

सकें तथा जो शिक्षालय-समाज की प्रकृति एवं इलाका के लिये अवश्यंभावी हों। ये नियम जीवन में उपयोगी होने चाहियें। मेरा विचार है कि इस प्रकार हमारे युवक अनुशासन और सद्व्यवहार की बहुत शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं।

इसके अतिरिक्त यदि विद्यार्थियों से स्कूल के नियम आदि बनाने में सहायता ली जाय, तो वे अनुशासन की शिक्षा अधिक प्राप्त कर सकते हैं। अतः उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों की एक सभा बना देना चाहिए, जो प्रत्येक अनुचित व्यवहार के लिए अपराधी के दण्ड का संविधान कर, प्रधान अध्यापक को उसकी सूचना दे। अधिक से अधिक छात्रों को इस सभा के सदस्य बनने का अवसर देना चाहिए। इसके लिए उत्तम रीति यह हो सकती है कि समय-समय पर सभा के सदस्य परिवर्तित कर दिये जायँ। शिक्षालय के नियम आदि भी शिक्षकों के परामर्श से, इन्हीं विद्यार्थियों की सभा द्वारा बनाये जाने चाहिएँ। इस प्रकार हम विद्यार्थियों में कर्तव्य-परायणता, उत्तरदायित्व, तथा सेवा जैसे सद्गुणों का प्रादुर्भाव कर सकते हैं, ये प्रयोग एक अमेरिकन प्रधान अध्यापिका के निजी अनुभवों के परिणाम हैं, जिसने इस प्रकार का उत्तरदायित्व विद्यार्थियों पर छोड़ कर बहुत सफलता प्राप्त की है। उन्होंने अपराधियों को ढूँढ़कर उचित दण्ड देने का अपने शिक्षालय की लड़कियों को थोड़ा अधिकार दे रखा था। यही नियम प्रत्येक कक्षा में तथा खेलों आदि में भी लागू हो सकता है। हमारे यहाँ भी क्लास-मानीटरों आदि की कुछ व्यवस्था है। किन्तु मेरा विचार है कि कक्षा के बाहर भी विद्यार्थियों को उत्तरदायित्व संभालने का अभ्यास होना चाहिये। अतः खेलों, पार्टियों तथा अन्य उत्सवों में शिक्षकों को अधिक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये, बल्कि कार्य-भार विद्यार्थियों पर ही छोड़ देना चाहिए। शिक्षकों से अधिक दबे हुए बालकों का व्यक्तिगत-विकास समुचित नहीं हो सकता।

विद्यार्थियों की सामाजिक प्रवृत्ति स्काउटिंग तथा गर्ल-गाइडिंग आदि

संस्थाओं में भली भाँति तृप्ति का अवसर प्राप्त कर सकती है। यहाँ भी मेरे विचारसे बोर्डिंग स्कूल उचित शिक्षा दे सकते हैं। भारतीय स्कूलों का बोर्डिंग-जीवन अत्यन्त बन्धन-पूर्ण होता है। किन्तु कालेजों का अत्यंत असाधारण और स्वतन्त्र वातावरण में सहसा परिवर्तन तत्कालीन स्कूल से निकले हुए विद्यार्थियों के लिए बहुत दुष्कर हो जाता है। स्कूल होस्टलों में विद्यार्थियों का जीवन बहुत परतन्त्र तथा पर-अवलम्बित होता है। होस्टल भवन तथा उसके अन्य उपकरण बेहद रस-विहीन होते हैं, उसके साथ ही कठोर नियम उसे इतना असन्तुष्ट बना देते हैं कि वह विद्रोही हो उठता है और अवसर पाते ही उनकी अवज्ञा करना चाहता है। उसके विचार में होस्टल के बाहर का जीवन स्वर्गीय है, जिससे स्कूल के कार्य-कर्ता उसे वंचित कर रहे हैं। फलस्वरूप स्कूल से बाहर निकलते हुए वह इस 'स्वर्गीय जीवन' में डुबकी लगाने लगता है, तथा कभी-कभी तो वह उसमें इतना डूब जाता है कि फिर कभी वास्तविकता को समझ ही नहीं सकता। यह अवस्था बहुत दयनीय है। स्कूल और कालेज-जीवन के अन्तर को कम करना चाहिए। प्रत्येक विद्यार्थी को उत्तरदायित्व की शिक्षा देनी चाहिए, जिससे वह भविष्य की कठिनाइयों को हँसते हुए सहने में समर्थ हो।

हमारे स्कूलों में इंग्लिश पब्लिक स्कूल का 'हाउस सिस्टम' बहुत सफल हो सकता है। इस प्रकार की व्यवस्था में सारे छात्रों को भिन्न-भिन्न 'हाउसों में' विभाजित कर देते हैं, यह 'हाउस' स्कूल के अन्तर्गत ही होते हैं। यदि उत्तम रीति से ये 'हाउस' चलाये जाएं तो मनोविज्ञान के अनुसार ये स्कूल होस्टल के स्थानापन्न हो सकते हैं। यह संस्था विद्यार्थियों द्वारा अनुशासित होने के कारण विद्यार्थियों के स्कूल में भी इसी प्रकार अनुशासन और कार्य भार सम्हालने की क्षमता उत्पन्न कर सकती है।

कुछ दिन हुए लन्दन में शिक्षा-सभा में भाषण देते हुए एक वक्ता ने कहा था हमारा उद्देश्य बालकों को ऐसी शिक्षा देना है जिससे वे

दूसरों के पीछे अन्धविश्वासी बनकर न चलें। ये सज्जन बच्चों में नेतृत्व की क्षमता उत्पन्न करना चाहते हैं। संसार के सारे देशों में शिक्षा के इसी उद्देश्य को सामने रखना चाहिए। अंग्रेजों ने 'प्रीफेक्ट सिस्टम' में कुछ पूर्णता प्राप्त की है, किन्तु अब भी वह सन्तोषजनक नहीं। मैंने जो कुछ ऊपर कहा है, वह इस प्रकार की नेतृत्व-शिक्षा के लिए अत्यन्त उपयोगी सुझाव हैं। आधुनिक इतिहास तथा प्रान्तीय और आर्थिक भूगोल भी अत्यन्त उपयोगी साधन हैं। समाचारों पर साप्ताहिक विवेचना, समाचार पत्र तथा अन्य पत्र-पत्रिकाएँ तथा बड़े विद्यार्थियों के लिए साहित्य सभा अथवा ऐसी सभाएँ जहाँ वे भिन्न-भिन्न विषयों पर वाद-विवाद और तर्क कर सकें, अत्यन्त मूल्यवान सिद्ध हो सकती हैं। ये सब व्यवस्थाएँ बालकों में सेवा-भाव उत्पन्न करती हैं तथा शिक्षक उन्हें संसार में उपयोगी कार्य करने के लिए तैयार करके भेज सकते हैं।

कुछ सज्जन यह समझेंगे कि मैं शिक्षकों को सर्वथा पीछे की ओर ही छोड़ देना चाहता हूँ। यह भ्रम है, मेरे विचार से शिक्षक को प्रेरक और सहायक होना चाहिए। विद्यार्थियों की प्रत्येक क्रिया शिक्षकों के सहयोग से होनी चाहिए, तथा प्रत्येक कमी को दूर करने अथवा हानि से विद्यार्थियों को बचाने के लिए शिक्षक को सदैव तत्पर रहना चाहिए।

कक्षा के बाहर प्रतिक्रियाओं के अनेक रूप हो सकते हैं, तथा : (१) स्कूल आरम्भ होने से पूर्व विद्यार्थियों और शिक्षकों की सम्मिलित सभा (२) खेल (३) शिक्षकों और छात्रों द्वारा भाषण और वाद-विवाद (४) संगीत सम्मेलन (५) नाटक (६) सैनिक (७) स्कूल द्वारा प्रचलित बैंक तथा अन्य सभाएँ (८) बालकों की अभिरुचि के अनुकूल काम तथा फोटोग्राफी अथवा टिकट आदि एकत्रित करना। यह कार्यक्रम स्कूल अथवा व्यक्ति के हित को देखते हुए करने का नहीं, वरन् अधिकांश छात्रों के दृष्टिकोण को समुन्नत करने के लिए रखना चाहिए।

यूरोप के स्कूलों में 'ट्यूटोरियल सिस्टम' पाया जाता है। इसके

अनुसार प्रत्येक आयु-विभाग के कुछ विद्यार्थी एक शिक्षक के निरीक्षण में छोड़ दिये जाते हैं। शिक्षक अपने विभाग के छात्रों की प्रत्येक क्रिया का भली-भाँति निरीक्षण करता है, तथा उनकी उन्नति के लिए प्रयत्न करता है। इस व्यवस्था में एक परिवर्तन उचित समझता हूँ—वह यह कि कुछ समय पश्चात् शिक्षक तथा उसके विभाग के विद्यार्थियों में परिवर्तन कर देना चाहिए। इस प्रकार विद्यार्थियों तथा शिक्षक को अधिक व्यक्तिगत अनुभवों का सुयोग प्राप्त हो सकता है। इस व्यवस्था की सफलता बहुत कुछ निरीक्षक शिक्षक के ऊपर निर्भर है। इस प्रकार परिवर्तित स्वरूप हमारे लिए अत्यन्त उपयुक्त होगा।

उपर्युक्त सुझावों के आधार पर निर्मित शिक्षालय-समाज अपने सदस्यों में से हीनता की भावना निकाल उन्हें कर्त्तव्यशील व्यक्ति बनाने में सफल होगा। शिक्षालय तथा सदस्यों के प्रति कृतज्ञता और प्रेम, शिक्षालय की उन्नति में गर्व की अनुभूति आदि उच्च भावनाओं का बीजारोपण कर उन्हें पूर्ण विकसित व्यक्ति बनाने में सहायक सिद्ध होगा।

जो कुछ मैंने ऊपर कहा है वह लड़के और लड़कियों दोनों के स्कूलों के लिए उपयुक्त ही है। इसमें थोड़ा सा परिवर्तन कर देने से इन सब व्यवस्थाओं को हम सह-शिक्षा-संस्थाओं में भी प्रयुक्त कर सकते हैं। आधुनिक लड़कियों तथा लड़कों के शिक्षालय अपने निजी रूप में पर्याप्त उपयोगी हैं, किन्तु वहाँ भी सह-शिक्षा-संस्थाओं के समान विस्तृत दृष्टिकोण का अभाव है। सह-शिक्षा-संस्थाओं में लिंग-भेद को लोप न करके स्त्री को भी पुरुष के समान ही समाज का सदस्य समझना चाहिए। सह-शिक्षा-समस्या बहुत जटिल है, इस पर अनेक वाद-विवाद भी होते हैं, किन्तु स्थानाभाव के कारण मैं इस विषय में अधिक नहीं कह सकता। इतना अवश्य कह सकता हूँ, कि समुचित ढंग पर चालित सह-शिक्षा संस्था, सामाजिक, विद्योपार्जन, सभ्यता तथा नैतिक शिक्षा के लिए बहुत उपयोगी

सिद्ध हो सकती है। इनके द्वारा लड़के और लड़कियों के स्कूलों के एकांगी भेद-भाव मिटाये जा सकते हैं, जहाँ लिंग-भेद केवल आश्चर्य की वस्तु हो समझी जाती है, तथा एक दूसरे के प्रति दोनों जातियाँ अनभिज्ञ रह जाती हैं।

कभी-कभी यह शंका की जाती है कि इस प्रकार की सामाजिक क्रियाएँ स्कूल की फीस तथा बच्चों के व्यय को बढ़ा देती हैं। इसका कारण यह है कि जो थोड़े-बहुत पब्लिक स्कूल भारत में हैं, उन्होंने इन विषयों को बढ़ा-चढ़ा कर, इनके प्रति भ्रम उत्पन्न कर दिया है। ये स्कूल भारत के लिए उदाहरण रूप नहीं हो सकते। इन स्कूलों की शिक्षा भारतीय जीवन से सर्वथा विभिन्न है, अतः यहाँ के छात्र जीवन में कठिनाइयाँ ही पाते हैं। हम अपने बच्चों को भारतीय बनाना चाहते हैं। जब तक इन स्कूलों में सच्ची भारतीयता नहीं आ जाती तब तक इन्हें उचित समझना मूर्खता है। इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि हमारे शिक्षक, विदेशी शिक्षा प्राप्त होने पर भी, हृदय एवं आत्मा से भारतीय ही होने चाहिएँ, तभी हम देश की उन्नति के लिये सच्ची शिक्षा दे सकते हैं।

शिक्षा में रेडियो का स्थान

रेडियो का लाभ तथा प्रधान गुण मुख्यतः उसके वर्णन की वास्तविकता और वक्ताओं तथा सर्वत्र फैले हुए हजारों श्रोताओं पर उसके तत्क्षण होने वाले प्रभाव पर निर्भर है। अतः विद्यालयों में बेतार के तार के पाठ विद्यार्थियों को आनन्दित तथा शिक्षित करने वाले होते हैं।

परन्तु इसको शिक्षण के मौलिक नियमों के परिवर्तनार्थ नहीं चुना गया। इसका उद्देश्य केवल पाठन कार्य की सम्भावनाओं को विस्तृत करना है जिससे कि यह हमारे विद्यालयों के उन बच्चों की आवश्यकताओं को पूर्ण करने में सफल बन सके जिनको अधिक सुधरे हुए मानव समाज में उचित रूप से रहना है।

हममें से कुछ (मुख्यतः पाठशालाओं के शिक्षक) शिक्षा विषयक कार्य क्रम के प्रसार के विचार मात्र को ही विनोद पूर्ण उपेक्षा से उड़ा देंगे, मानो कि वो वास्तविक शिक्षण से पृथक हो परन्तु ऐसा करना मुख्य रूप से अध्यापक के अविचार पूर्ण निर्णय का फल है। अध्यापक को यह भय होता है कि श्यामपट, चाक तथा नक्शे इत्यादि से भिन्न यह रेडियो कक्षा नियन्त्रण और अनुशासन क्रम में बाधा न डाल दे। वह कुशल वक्ताओं की योग्यताओं से भी ईर्षा कर सकता है या यह अनुचित अनुमान भी कर सकता है कि पाठशालाओं को सफलतापूर्वक चलाने वाली उसकी सेवा इससे बन्द हो जायगी।

चाहे कुछ भी हो परन्तु विदेशों के अनेक अनुभवों ने यह सिद्ध कर दिया है इस प्रकार के भय निर्मूल हैं यदि उचित रूप से व्यवस्था की

जाय तो पाठशाला कार्यक्रम अध्यापकों के कार्य में बाधा न पहुँचा कर उनको अधिक सहायता ही दे सकते हैं। अतः इससे उनको किसी प्रकार की हानि की सम्भावना नहीं हो सकती। पाठशाला कार्यक्रम कुछ अल्प अनुभवी तथा अत्यधिक भीरु अध्यापकों को यह विश्वास दिलाने में भी यथेष्ठ होगा कि जब बच्चों में कौतूहल होता है तब वे शिक्षा ग्रहण करने के लिये अधिक उत्साहित होते हैं।

अखिल भारतीय रेडियो ने अभी तक इस दिशा में किसी विचारपूर्ण नीति का अनुसरण नहीं किया है। अधिकतर आकाशवाणी केन्द्रों के पास लाभदायक पाठशाला समाचारों की कोई उचित सामग्री नहीं है। ऐसी पाठशालाओं की संख्या, जिनमें सुनने योग्य सैट हों, निराशाजनक ही है और ऐसी पाठशालाओं की संख्या तो और भी अल्प है जो नियमित रूप से इन कार्यक्रमों को सुनते हैं।

सबसे बड़ा दोष वर्तमान पाठशाला सम्बन्धी रेडियो कार्यक्रम में यही है कि यह महत्वपूर्ण कार्यक्रम उन अनुभव-हीन तथा अल्प वेतन भोगी सहकारियों के हाथों में है जो न तो स्वयं अध्यापक हैं और न शिक्षण विधि में निपुण हैं। फल यह होता है कि इस कार्यक्रम के लिये नियत आधा घंटे में से १०-१५ मिनट तो गीत सम्बन्धी कार्यक्रम में व्यर्थ नष्ट हो जाते हैं और शेष समय बिना विचारे चुने हुये सामान्य विषयों पर व्यतीत हो जाता है।

परन्तु इन सब बातों के होते हुए भी अखिल भारतीय रेडियो हमारे धन्यवाद तथा मान का अधिकारी है कि जो कुछ भी उसने इस दिशा में किया है वह स्वयं ही बगैर किसी शिक्षा संस्था, शासन या प्रजा की सहायता के किया है।

बड़ी-बड़ी शिक्षा सम्बन्धी योजनायें भारत की बाल संतति के लिये तैयार हो रही हैं और नई-नई पाठशालाएँ तथा महाविद्यालय खोले जा रहे हैं। पाठ्यक्रमों पर भी पुनः विचार हो रहा है। इसलिए शिक्षा में

रेडियो कार्य-क्रमों को भी एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होना चाहिये क्योंकि यह शिक्षक तथा शिक्षितों के मध्य में जो पारस्परिक व्यक्तित्व का व्यवहार होता है उसे कम न करते हुये उसमें एक प्रकार की मानसिक उत्तेजना उत्पन्न करता है जो कि पाठशालाओं के साधारण साधनों से उत्पन्न होनी कठिन है।

ग्राम विद्यालयों की ओर विशेष ध्यान आकर्षित करने की आवश्यकता है क्योंकि इन पाठशालाओं की सामान्य सामग्री तथा इनके शिक्षक-वर्ग की योग्यतायें नागरिक पाठशालाओं से अलग होती हैं। अतएव ग्राम्य पाठशालाओं के लिये विशेष पाठ तथा व्याख्यान-मालाओं की योजना होनी आवश्यक है। यह नया अनुभव ग्रामीण बालक के लिये विशेष रूप से जागृति का साधन होगा और उसे अपने वर्तमान हीन भाव से भी छुटकारा मिलेगा।

प्रथम समस्या तो प्रबन्ध सम्बन्धी है। समस्त देश में रेडियो केन्द्रों की संख्या में इतनी वृद्धि होनी कि प्रत्येक छोटे-छोटे राज्य में भी कम से कम एक आकाशवाणी केन्द्र तो होना ही।

यदि पाठशाला कार्यक्रम का प्रबन्ध स्थानीय शिक्षा विभागों को सौंप दिया जाय और उन्हें प्रतिदिन ४५ मिनिट का समय दिया जाय तो मेरे विचार से परिस्थिति में समुचित रूप से सुधार हो सकता है।

प्रत्येक केन्द्र के लिए केन्द्रीय विभाग कार्यक्रम प्रसारणार्थ एक अफसर उचित स्टाफ सहित नियत कर सकता है। अपने व्यवसाय सम्बन्धी अनुभव के आधार पर उसका यह कार्य होगा कि वह कार्य-क्रम बनाये जो कि एक समिति द्वारा स्वीकृत हो। इसके सदस्य होंगे—(१) शिक्षाध्यक्ष (२) आ. भा. रे. के केन्द्राध्यक्ष (३) तीन अनुभवी प्रधान अध्यापक (४) तीन अनुभवी अध्यापक (५) समाचार देने वाला कर्मचारी जो कि अपनी पद स्थिति के अनुसार सेक्रेटरी भी हो सकता है। अध्यापकों तथा प्रधान अध्यापकों का चुनाव इस प्रकार करना

होगा कि जिससे सम्पूर्ण विषयो के जानकार व्यक्तियों का समावेश उनमें हो सके। अपनी योजना को सुचारु रूप से चलाने के लिये यह आवश्यक है कि कर्मचारी एक अनुभवी तथा उच्च-शिक्षा प्राप्त व्यक्ति हो।

वक्ताओं का पारिश्रमिक उचित होना चाहिए जिससे कि योग्य तथा अनुभवी व्यक्ति आगे आ सकें। ट्रांसमिशन (Transmission) के खर्च तथा सेट्स (sets) के क्रय को पूरा करने के लिए प्रत्येक विद्यार्थी से एक पैसा प्रति मास चन्दे के रूप मे लिया जा सकता है। यदि इस क्रम के अनुसार चला जाय तो मुझे विश्वास है कि प्रत्येक पाठशाला के पास, बिना जनता पर चन्दे का बोझ डाले, एक अच्छा रेडियो सेट हो सकता है।

इस प्रश्न का शिक्षा सम्बन्धी पक्ष लेते समय यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि समाचार सामान्य पाठ्य-पुस्तक क्रम के अनुसार हो और उसमे मनोरंजक विषयो का भी समावेश हो। अध्यापक को चाहिए कि वह इनका एकीकरण करे। इनके हम दो बड़े विभाग कर सकते है। एक जूनियर विभाग जो ९ से १२ वर्ष तक के बच्चो के लिये हो और दूसरा सीनियर जो १२ से १५ वर्ष तक के बच्चो के योग्य हो।

एक सचित्र पत्रिका निकालना इससे भी अधिक उपयोगी बात होगी। जिसमें चित्र तथा पाठ्य-क्रम का अनुसरण करने के लिये टिप्पणी रहें। पत्रिका में कुछ अन्य उपयोगी सामग्री भी होगी जैसी कि ब्रिटिश ब्राडकास्टिंग कारपोरेशन द्वारा निकाली जाती है। इन पत्रिकाओं के लिये यह तो नितान्त आवश्यक है कि वे सावधानी पूर्वक सपादित की जायें और आकर्षक ढंग से छापी जायें तथा मुफ्त ही बाँटी जायें।

यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि ये कार्यक्रम उन अध्यापको के निरीक्षण में सुनाये जायें जिनका कार्य बच्चों को रेडियो श्रवण-कला में शिक्षित करना होगा। इस कार्यक्रम के लिये एकाग्रता चाहिये। इसमें तनिक भी विघ्न न होना चाहिये क्योंकि यह व्यक्तिगत बातचीत से

भिन्न होता है। इसमें न तो बात दोहराई जाती है और न ऊँचा बोला जाता है यदि एक बार तारतम्य टूट जाय तो कार्यक्रम का सारा प्रभाव बिगड़ जाता है।

श्रवण करने के पश्चात् विद्यार्थी को भाषण के आवश्यक अंगों को दोहराने के लिये उत्साहित करना चाहिये ऐसा करने से वे ध्यान से श्रवण करना सीख लेंगे। उच्च-स्तर के पाठशाला कार्यक्रम के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है। इस कार्य को सफल बनाने के लिये अखिल भारतीय रेडियो इंजीनियरिंग विभाग की सहायता की आवश्यकता रहती है।

शान्ति स्थापना के लिये शिक्षा का रूप

उन्नति व शान्ति प्रत्येक मनुष्य के जन्म सिद्ध अधिकार हैं। स्वार्थ-परता तथा अन्य संकीर्ण इच्छाओं की पूर्ति के लिए जो मनुष्य उन महान् आदर्शों का दमन करते हैं वे मनुष्यता के भयंकर शत्रु हैं। उन्नति शांति पर अवलम्बित है तथा शांति उत्तम प्रकार की उन्नति पर। अतः सच्ची शिक्षा वही है जिसके प्राप्त करने से प्रत्येक मनुष्य अपने पृथक व्यक्तित्व को समझने के साथ-साथ यह भी समझ सके कि वह उस विशाल मनुष्य-समुदाय का एक अंग है जो प्रतिक्षण अपने लक्ष्य की ओर प्रगतिशील है इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये वह यह भूल जाये कि संसार से उसे कुछ लेना है, उसे तो यही स्मरण रहे कि उसे संसार को कुछ देना है।

अत. शांति-सस्थापन तथा वसुधैव कुटुम्बकार जैसे आदर्शों की प्राप्ति के लिये समान-शिक्षा अत्यन्त आवश्य क है। मेरे विचार से निम्न-लिखित कुछ विषय पाठशाला की में अनुरूपता बनाये रखने में समर्थ होंगे :—

अन्तर्राष्ट्रीय भाषा—इसकी हमरे व्यक्तिगत, व्यापारिक व राज-नैतिक क्षेत्र में आवश्यकता। आज ऐसी कोई भाषा नही है इसलिये बहुत सी असुविधाएं हमारे सम्मुख हैं हम परस्पर एक दूसरे के विचार व भावनाओं को नही समझ सकते, क्योंकि हम एक दूसरे से बातचीत करने में असमर्थ हैं। एक विदेशी-यात्री को अपने मार्ग में अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है किन्तु अंतर्राष्ट्रीय भाषा सीखने व समझने में अत्यन्त सरल होनी चाहिए।

अनेक कमियों के होते हुए भी, बेसिक-इंग्लिश, जिसकी वर्णमाला में केवल ८५० वर्ण हैं—मेरे विचार। से अंतर्राष्ट्रीय भाषा के पद के लिये अत्यन्त उपयुक्त है। मेरी इच्छा है कि प्रत्येक सेकेण्डरी स्कूल में यह दूसरी भाषा के रूप में प्रत्येक बच्चे को पढ़ाई जाय।

इस पद के लिये एस्पिरैंटो की योग्यता का विश्वास मुझे अभी तक नहीं हुआ। किन्तु यहाँ किसी की मातृ-भाषा की निंदा करना मेरा ध्येय नहीं है।

(२) भूगोल—मेरे विचार में भूगोल अधिक योग्य व सार्थक विषय है किन्तु मेरा आशय उस भूगोल से नहीं जो आजकल हमारी पाठशालाओं में पढ़ाया जाता है। किसी-किसी देश में भूगोल आत्म-तृप्ति व अपने सिद्धांतों के प्रचार के लिए पढ़ाया जाता है। कहीं-कहीं बालकों के हृदयों में जातीय भावनाओं को उत्तेजित करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है।

हमें एक नवीन भूगोल की आवश्यकता है जो हमें यह सिखाये कि अन्तर्राष्ट्रीय उन्नति के लिए हम अन्योन्याश्रित हैं। जो हमें यह सिखायें कि मनुष्य के व्यक्तित्व पर वातावरण का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है तथा जिसके द्वारा हम उन्नति के पथ पर चलने के लिए परस्पर सहयोग व सहायता की भावनाओं को जाग्रत कर सकें।

संक्षेप में, हमें मनुष्यता पर अधिक ध्यान देना चाहिये। पाठशाला की प्रत्येक कक्षा में मानवीय भूगोल की आवश्यकता है। मेरे विचार से उत्तम रीति से सिखाने पर यह विषय दया, प्रेम व सहयोग की भावनाओं को उत्पन्न करने में समर्थ होगा। यही भावनाएँ संसार में समाज-संस्था के लिये आवश्यक हैं।

इतिहास—कोई कोई मनुष्य इतिहास को युद्ध आदि का मूल कारण ठहराते हैं। यह ठीक ही है। हम सब ही यह मानते हैं कि यद्-

मान इतिहास मिथ्या है। हमारी इतिहास की पुस्तकें हमारे पूर्वजों को
देवताओं के रूप में तथा दूसरों के पूर्वजों को राक्षसों के रूप में हमारे
सम्मुख प्रस्तुत करती हैं। प्रचलित इतिहास की पुस्तकें पुनः लिखी
जानी चाहियें। इन सारी कटुताओं को दूर करने के लिये लेखक को
विशाल हृदय व दयावान होना चाहिये। मेरे विचार में इतिहास की
सफलता इसी में है कि वह वर्तमान में हमें भूतकाल की गलतियों से
बचायें।

प्रत्येक बालक को प्रत्येक देश के इतिहास का ज्ञान होना आवश्यक
है। यह इतिहास अत्यन्त ही सरल भाषा में लिखा जाना चाहिये तथा
ईर्ष्या, द्वेष आदि की भावनाओं से रहित होना चाहिये। यह सत्य है कि
इस नवीन इतिहास में बहुत कुछ नया विषय जोड़ना पड़ेगा तथा वर्तमान
इतिहास में से बहुत कुछ छोड़ना भी पड़ेगा। इतिहास का ध्येय बालकों
को भली-भाँति रहने व दूसरों को भली प्रकार रहने देने की शिक्षा देना
ही है।

साधारण-विज्ञान—प्राकृतिक व साधारण विज्ञान भी हमारी
शिक्षा के आवश्यक अंग हैं। किन्तु अधिक ध्यान उन्हीं बातों की ओर
देना चाहिये जिन्होंने हमारे जीवन को निर्बाध व सरल बनाने में सहायता
दी है। युद्ध के घातक शस्त्र हमारे ध्यान देने योग्य नहीं हैं।

अपने व विदेशी वैज्ञानिकों का हमें समान रूप से आदर करना
चाहिये, जिन्होंने हमें रेडियो, रेल वायुयान दिये हैं। मनुष्य की उन्नति
की ओर ही हमें अपनी खोज को केन्द्रित करना चाहिये।

नागरिक शास्त्र—नागरिकता की शिक्षा अत्यन्त लाभप्रद है, अतः
आधुनिक शिक्षा में नागरिक-शिक्षा शास्त्र अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है।

धार्मिक शिक्षा—धर्म व धार्मिक शिक्षा का, वर्तमान रूप में कुरू-
तियों की नग्नता लिये हमारी नवीन शिक्षा-प्रणाली में कोई स्थान नहीं

होना चाहिये। मेरे विचार में इसमें नैतिक-शिक्षा व चरित्र-निर्माण-शिक्षा का पुट होना आवश्यक है। प्रत्येक धर्मों की अच्छाइयों का संग्रह जिस पुस्तक में हो वह भूमिका व प्रेरणा के लिये अवश्य ही लाभदायक हो सकती है।

प्रत्येक धर्म की शिक्षा समान है, उसमें कोई अन्तर नहीं। ऐसी धर्म पुस्तकों को पढ़ने पर सारे जातीय व धार्मिक अन्तर दूर हो सकते हैं। मेरे विचार में चरित्र-निर्माण ही वास्तविक धर्म है, अत: प्रत्येक धर्म का चरम लक्ष्य चरित्र-निर्माण ही होना चाहिए।

शिक्षा क्षेत्र में खोज व अनुसन्धान और शिक्षक

प्रगति सभ्यता व संस्कृति का अनिवार्य अंग है। स्थिरता व जड़ता इसके विरोधी पक्ष हैं। अतः अकर्मण्य जीव सभ्यता के घोर शत्रु हैं, जो स्वयं भी अपने संकीर्ण क्षेत्र से बाहर नहीं निकलते और दूसरों को भी ऐसा करने से रोकते हैं। इन सब बाधाओं के होते हुए भी उन्नति आवश्यक है। यही शिक्षा के विषय में भी सत्य है, क्योंकि शिक्षा समाज की सबसे बड़ी महत्वपूर्ण वस्तु है। इसके प्रभाव से कोई व्यक्ति अछूता नहीं। बालकों की शिक्षा आवश्यक है, तथा यह भार शिक्षकों को ही सम्हालना है, अतः शिक्षा क्षेत्र में नवीन खोज और अनुसन्धान आवश्यक है।

प्रायः हमारे शिक्षकों का विचार है कि खोज और अनुसन्धान में लगना उनके क्षेत्र से बाहर की वस्तु है। उनके विचार से कोर्स समाप्त करने के ही उन्हें पैसे मिलते हैं, और यही उनका लक्ष्य है। प्रायः परीक्षा के परिणाम से शिक्षक की सफलता अथवा असफलता का अनुमान लगाया जाता है। एक बार मैंने एक प्रसिद्ध प्रधान अध्यापक से इस विषय में परामर्श करने का प्रयत्न किया, तो उन्होंने मुझे यह कह कर चुप कर दिया कि खोज के क्षेत्र में जाने का कार्य उच्च पदाधिकारियों व आप जैसे विश्वविद्यालयों के प्रोफेसरों का है। एक साधारण अध्यापक के पास न तो इसके लिए समय ही है, और न ही पैसा। उनकी इस बात से मैं भी सहमत हूँ कि कालिजों के प्रोफेसरों के पास अनुसन्धान के लिए समय व साधन सुगम नहीं हैं, किंतु मैं यह नहीं मान सकता कि विद्यालयों के अध्यापक इस क्षेत्र में नहीं आ सकते। मेरा विश्वास है कि विद्यालयों

से सीधा सम्बन्ध रखने के कारण शिक्षक इस विषय में अधिक सफल हो सकते हैं। शिक्षकों की सहायता व परामर्श के बिना कोई भी खोज सफल नहीं हो सकती। बाल मनोवैज्ञानिक को अपने प्रत्येक नवीन अन्वेषण व अनुसन्धान में शिक्षक की आवश्यकता है, क्योंकि वह बालकों को पूर्ण रूप से जानता है। मनोवैज्ञानिक की विचारधारा को आचार-धारा में परिणत कर शिक्षक उसे सफलता की कसौटी पर कसता है। प्रत्येक नवीन अन्वेषण और अनुसन्धान का अवलम्ब ही उसकी सफलता है। शिक्षा-कार्य में अनेक जटिल समस्याओं को सुलझाना शिक्षक का कर्तव्य है, और वह ही इसे भली भाँति सम्पन्न कर सकता है; क्योंकि वह जानता है कि समस्या का उद्गम क्या है।

पढ़ाते समय शिक्षक अनेक साधनों का प्रयोग करता है। इन साधनों की सफलता व उपयोगिता का अनुमान बालकों के उत्तर व मुखमुद्रा से हो सकता है। एक प्रयोग में विफलता होने पर, वह अन्य प्रयोगों का प्रयोग करता है। इस प्रकार वह अनजाने ही खोज में लगा रहता है। प्रोफेसर कोलीवर के मतानुसार यह सत्य की खोज है, जिस पर प्रत्येक बुद्धियुक्त कार्य अवलम्बित है।

अब मेरा विषय स्पष्ट है। शिक्षा-क्षेत्र में खोज-प्रवृत्ति व सभ्यता की उन्नति के लिए आवश्यक है। अतः विदेशों की भाँति भारत में भी प्रत्येक अध्यापक को खोज में लगे रहना चाहिए। उन्हें प्रोत्साहन व सह-योग की आवश्यकता है। बिना किसी पुरस्कार अथवा प्रेरणा के अध्या-पकों को इस ओर लगाना कठिन है। आर्थिक सहायता व इस विषय में उपयोगी प्रकाशनों के लिए समुचित प्रबन्ध होना चाहिए। इंग्लैंड की "एजूकेशन रिसर्च" संस्था के समान हमारे यहां भी संस्थायें होनी चाहियें। राष्ट्र की उन्नति के लिये शिक्षा आवश्यक है, और उत्तम शिक्षा व्यवस्था के लिए शिक्षा में नवीन खोज और अनुसन्धान।

प्रत्येक साधारण शिक्षक के प्रतिदिन के कार्यों में अनेक
उत्पन्न हो जाती हैं। उनके कारणों को समझना, तथा उन्हें सुल

प्रयत्न करना ही प्रत्येक अध्यापक का कर्तव्य है सम्भव है अ
पक अपने को समान समस्याओ मे जकडा पाये, किन्तु प्रत्येक
साधनों और विचारो द्वारा ही उसका हल सोचना चाहिये । १
परिणाम उत्तम होगा । कठिनाई के समय सार्जेन्ट रिपोर्ट,
रिपोर्ट या अन्य किसी उपयोगी रिपोर्ट से सहायता ले लेनी
प्रोफेसर ओलीवर की पुस्तक 'रिसर्च इन एजूकेशन' इस कार्य
सफल सिद्ध हो सकती है ।

शिक्षा को हम निम्नलिखित पांच भागों में विभाजित कर
हैं :—

१. शिक्षा किसे देनी चाहिये……(बाल-मनोविज्ञान)
२. शिक्षा की आवश्यकता……(शिक्षा के उद्देश्य व दर्शन)
३ शिक्षा का विषय…………(पाठ्यक्रम विषयक समस्याएँ)
४. शिक्षा किस प्रकार देनी चाहिए…(शिक्षा के साधन)
५. शिक्षा कहाँ देनी चाहिये ……(शिक्षालय व उनके साधन)

उपर्युक्त विषयो से सम्बन्धित अनेक समस्यायें हैं, जिनको सुलझाने का प्रयास भली भांति करना प्रत्येक शिक्षक का कर्तव्य है । असन्तोष ही प्रगति का चिन्ह है ।

अन्त मे 'कण्टेण्ट आफ एजूकेशन' के एक उद्धरण की ओर मैं शिक्षकों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ ।—

शिक्षा के साधन, शिक्षालय आदि प्रत्येक क्षेत्र में नवीन अन्वेषण और अनुसन्धानों की आवश्यकता है । इसके मुख्य दो कारण हैं । आजकल शिक्षा में परिवर्तन की अत्यन्त आवश्यकता है । इस विषय में अनेक वाद-विवाद हो रहे हैं । किन्तु अभी तक विचारपूर्ण खोज पर अवलम्बित किसी उत्तम सिद्धान्त का अभाव है । अतः शिक्षा-क्षेत्र में स कमी को पूरा करना आवश्यक है ।